

# जैन धर्म और जीवन मूल्य

डॉ. प्रेम सुमन जैन



समता संयम और श्रम की साधना को अपने में समेटे हुए श्रमण धर्म सुदीर्घ काल से इस देश के जन-जीवन को अनुप्राणित किये हुए है। आदि देव ऋषभदेव से लेकर भगवान महावीर तक के तीर्थंकर उषदेश जीवन की साधना द्वारा जांचे-परखे हैं। जैनधर्म के जो जीवन-मूल्य प्रतिष्ठित हुए वे वैचारिक उदारता, समता, अहिंसा, अपदिग्रह, स्वाध्याय स्वाधीनता, पुहषार्थ आदि के नाम से विख्यात हैं। इनके सम्बन्ध में ललित शैली में प्रामाणिक रूप से प्रकाश डालती है यह पुस्तक।

'जैन धर्म और जीवन-मूल्य' नामक प्रस्तुत कृति डा. प्रेम सुमन जैन द्वारा प्रणीत विभिन्न शोध-पूर्ण एवं चिन्तनप्रधान लेखों का एक गुलदस्ता है, जिसकी महक वर्तमान सन्दर्भ में भी उषादेय और पर्यावरण को ताजगी प्रदान करने वाली है। यह पुस्तक प्रथम पुष्प है लेखक के प्रस्तावित ग्रन्थ-चतुष्टय गुच्छक का, जो शीघ्र प्रकाश्य है।

**मूल्य । 90.00**



# जैनधर्म और जीवन-मूल्य

**संघी प्रकाशन**  
**नयपुर उदयपुर**

# जैनधर्म और जीवन-मूल्य

डॉ० प्रेम सुमन जैन  
सह-आचार्य एवं विभागाध्यक्ष  
जैनविद्या एवं प्राकृत विभाग  
मुखाडिया विश्वविद्यालय, उदयपुर

संघी प्रकाशन  
जयपुर उदयपुर

प्रकाशक : विजेन्द्र कुमार संघी  
संघी प्रकाशन  
सी-177, महावीर मार्ग,  
मालवीय नगर,  
जयपुर - 302017  
शाखा : बापू बाजार,  
उदयपुर -313001

मूल्य : नब्बे रुपये

संघी प्रकाशन, जयपुर - उदयपुर द्वारा प्रकाशित/प्रथम संस्करण : 1990  
सर्वाधिकार : लेखकाधीन/जेक प्रिन्टर्स, जयपुर - 302018 में मुद्रित ।

---

**JAIN DHARM AUR JEEVAN-MOOLYA**

**By Dr. Prem Suman Jain**

**Rs. 90.00**

## प्राथमिकी

मानव सभ्यता के साथ उदित होकर जैन धर्म निरन्तर गतिशील होता रहा है। आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव द्वारा प्रतिपादित इस धर्म ने जन-साधारण को सुसंस्कृत बनाया एवं उसे जीने की कला सिखायी। इस परम्परा के अन्य जितेन्द्रिय महापुरुषों ने कर्षणा और साधना के समन्वय का मार्ग प्रशस्त किया। आत्म-साक्षात्कार की पद्धति द्वारा मानव को अभयी और निःसंग बनने की प्रेरणा इस धर्म के साधकों द्वारा दी गयी। आत्म-संयमी जिनों की परम्परा के अंतिम तीर्थङ्कर भगवान् महावीर ने जैनधर्म को व्यवस्थित कर उसे लोक भोग्य बनाया। जैन आचार्यों के साहित्य ने इस धर्म और दर्शन को देशव्यापी बना दिया। जड़ और चेतन के व्यवस्थित तत्त्व निरूपण ने जैन धर्म को जहाँ वैज्ञानिक घरातल प्रदान किया वहाँ अनेकान्त-दृष्टि की सम्पन्नता ने विचारों की उदारता को बढ़ा दिया। जैनधर्म की विशुद्ध आचार-संहिता ने एक और नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा की तो दूसरी ओर ध्यान और साधना से साधकों ने स्वतन्त्रता का अनुभव किया। इससे समता, अहिंसा अपरिग्रह, स्वाध्याय, पुरुषार्थ, सेवा, उदारता आदि अनेक जीवन-मूल्य उपस्थित हुए, जिनकी प्राप्ति मनुष्य का मुख्य ध्येय बना/बनाना चाहिए।

जैनधर्म और उसमें प्रतिष्ठित जीवन-मूल्यों के सम्बन्ध में निरन्तर चिन्तन-मनन मन में चलता रहा है। स्वाध्याय की लम्बी अवधि में इन पर जो कुछ भी, जहाँ कहीं हमने लिखा या उसे प्रकाशित किया उस सबको व्यवस्थित और संशोधित रूप में इस पुस्तक में बहु-जनहिताय प्रस्तुत किया गया है। विभिन्न शोध पूर्ण लेखों का यह एक गुलदस्ता है, जिसकी महक वर्तमान सन्दर्भ में भी उपादेय और पर्यावरण को ताजगी प्रदान करने वाली है। इस प्रस्तक के पाठकों में जैनधर्म को और अधिक गहरायी से जानने की जिज्ञासा बढ़े तथा जीवन-मूल्यों के प्रति उनकी प्रतिबद्धता हो, यही हमारा प्रतिपाद्य है। पुस्तक के प्रकाशक श्री विजेन्द्र संघी और प्रकाशन-सहयोगी श्री एम. आर. मिण्डा चेरिटेबल ट्रस्ट की यह सामायिक ही कही जायेगी कि वे इस व्वावसायिक दौर में भी धर्म और नैतिक मूल्यों के प्रतिष्ठापक साहित्य के प्रकाशन में सक्रिय रुचि रखते हैं। उनके सहयोग के लिए आभार।

महावीर जयन्ती, 1990

प्रेम सुमन जैन

# प्रकाशन-सहयोगी संस्था

श्री एम. आर. मिण्डा चेरिटेबल ट्रस्ट  
132, बड़ा बाजार, उदयपुर-313001, फोन-23917

स्थापना :—

इस ट्रस्ट की स्थापना स्व. श्री मोतीलाल मिण्डा ने सन् 1978 में की थी। ट्रस्ट की स्थापना की पृष्ठभूमि में उनकी यह भावना थी कि शिक्षा, सेवा एवं अर्थ्यात्म के उन कार्यों को इस ट्रस्ट द्वारा सहयोग प्रदान किया जाय जो समाज एवं राष्ट्र के उत्थान व संरक्षण में उपयोगी हों।

उद्देश्य एवं प्रवृत्तियाँ :—

- (i) उच्च शिक्षा प्राप्त करने वाले होनहार, मेधावी एवं जरूरतमंद विद्यार्थियों को आर्थिक सहयोग प्रदान करना।
- (ii) शिक्षा, साहित्य एवं संस्कृति के संरक्षण, विकास एवं प्रकाशन के कार्यों में यथा-संभव सहयोग प्रदान करना।
- (iii) समाज के साधनहीन एवं असहाय किन्तु कर्मठ एवं उत्साही उन व्यक्तियों को सहयोग प्रदान करना जो स्वावलम्बन एवं सदाचार का जीवन जीना चाहते हैं।
- (iv) शिक्षा, चिकित्सा-सुविधा एवं जीविकोपार्जन हेतु विभिन्न प्रवृत्तियों का संचालन करना।
- (v) ट्रस्ट के द्वारा 1987 में सुल्वाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर में आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी के अवसर पर उसकी 'जैनविद्या-स्मारिका' के प्रकाशन में सहयोग प्रदान किया गया है।
- (vi) प्रस्तुत 'जैनधर्म और जीवन-मूल्य' पुस्तक के प्रकाशन में ट्रस्ट ने आंशिक अनुदान प्रदान कर सांस्कृतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा और जैनधर्म के प्रसार-कार्य में सहयोग किया है। आशा है, पाठकगण इससे लाभान्वित होंगे।

ट्रस्टी

महावीर प्रसाद मिण्डा

एम. एस. सी. (मू-विज्ञान), एम. ए. (प्राकृत)



## अनुक्रम

1.	श्रमण धर्म की परम्परा	1
2.	जैन संस्कृति का वैशिष्ट्य	9
3.	महावीर के चिन्तन-कण	19
4.	अनेकान्त : वैचारिक उदारता	24
5.	जैन धर्म का आधार : समता	29
6.	जैन आचार-संहिता	34
7.	अहिंसा : स्वरूप एवं प्रयोग	50
8.	अपरिग्रह के नये क्षितिज	60
9.	स्वाध्याय : ज्ञान की कुंजी	66
10.	कर्म एवं पुरुषार्थ	70
11.	जैनधर्म : बदलते सन्दर्भों में	79
12.	पर्यावरण-संतुलन और जैनधर्म	85
13.	महायानी आदर्श और जैनधर्म	95
14.	कुम्भाकालीन मेवाड़ में जैनधर्म	101
15.	जैन साहित्य में जीवन-मूल्य	120



## श्रमण धर्म की परम्परा

भारतीय संस्कृति के किसी भी पक्ष को पूर्णतया उद्घाटित करने के लिए जैन संस्कृति के अध्ययन-अनुसन्धान की नितान्त आवश्यकता है। क्योंकि इसके उद्गम एवं विकास की परम्परा एक समानान्तर आधार पर अग्रसित हुई है। जैन संस्कृति के उद्गम एवं विकास का परिज्ञान उसमें स्वीकृत कालगणना के आधार पर ही करना अधिक संगत होगा। क्योंकि हर बात की प्राचीनता एवं प्रामाणिकता को वेद और पाश्चात्य अध्ययन से ही प्रारम्भ करना जरूरी नहीं है। उसके आगे भी सोचा जाना चाहिए।

### प्राचीनता

जैन मान्यता के अनुसार सृष्टि का कभी आत्यन्तिक नाश नहीं होगा, अतः उसके रचना-काल का प्रश्न ही नहीं उठता। वह शाश्वत है। क्रम-ह्लासवाद व क्रम-विकासवाद के आधार पर समय व्यतीत होता है। युग बनते हैं। और उनसे इस विश्व में क्रमशः अवसर्पण और उत्सर्पण होता है। सुख से दुख की ओर और दुख से सुख की ओर बढ़ना मानव सृष्टि की यही दो स्थितियाँ जैन दृष्टि द्वारा स्वीकृत हैं। इन्हीं दो स्थितियों के बीच मानव सम्यता व संस्कृति परिवर्तित होती रहती है। ये दो स्थितियाँ छह भागों में विभाजित हैं—१- अति सुखरूप २- सुखरूप ३- सुख-दुखरूप ४- दुख-सुखरूप ५- दुखरूप और ६- अतिदुखरूप। जैन परम्परा ने इन छह कालों में कब क्या स्थिति हुई है एवं होगी इसका विस्तृत विवेचन किया है।

अवसर्पण की आदि सम्यता अत्यन्त सरल और सहज थी। भूमि स्निग्ध, मिट्टी अतिशयनिष्ठ एवं नदियों का जल मधुर व निर्मल होता था। उस समय यौगलिक व्यवस्था थी। माता-पिता, पुत्र एवं पुत्री को जन्म देकर छः माह बाद मरण को प्राप्त हो जाते थे। नवजात युग्म समय आने पर एक आगे के युग्म को जन्म देता था। किसी तरह की कौटुम्बिक व्यवस्था न होने से कोई उत्तरदायित्व नहीं था। अतः कोई व्यग्रता नहीं थी। जीवन की आवश्यकताएं बहुत सीमित थीं। जो भी थों, उनकी पूर्ति दस प्रकार के वृक्षों से हो जाती थी। इन वृक्षों को कल्पवृक्ष कहा गया है—अर्थात् ऐसे वृक्ष जो मनुष्यों की सब इच्छाओं की पूर्ति कर सकें। प्रकृति

और मानवीय तत्त्वों का यह ऐसे समिश्रण का युग था जहाँ धर्म-साधना, पाप-पुण्य, ऊँच-नीच आदि किन्हीं द्वन्द्वात्मक प्रवृत्तियों का अस्तित्व नहीं था। जैन पुराणकारों ने ऐसी परिस्थिति के युग को भोगभूमि व्यवस्था का युग कहा है। क्योंकि उसमें आगे आनेवाली कर्म-भूमि सम्बन्धी व्यवस्थाओं का अभाव था।

अवसर्पिणी कालचक्र का दूसरा और लगभग तीसरा विभाग भी क्रमशः बीत गया। कालप्रभाव से सभी बातें ह्रासोन्मुख होने लगीं। पृथ्वी का स्वभाव, पानी का स्वाद, पदार्थों की यथेष्ट उपलब्धि क्रमशः कम होती गई। कल्पवृक्षों को लेकर छीना-भ्रपटी होने लगी। इसलिए इस असुरक्षा की स्थिति ने सुरक्षा एवं सहयोग का आह्वान किया। इससे सामूहिक व्यवस्था प्रतिफलित हुई, जिसे 'कुल' नाम दिया गया है। एक युगल प्रथम बार हाथी पर आरूढ़ हुआ। अन्य युगलो ने उसे अपना मुखिया मान लिया। इस प्रथम कुलकर ने कल्पवृक्षादि का बंटवारा कर व्यवस्था को आगे बढ़ाया।

जैन-परम्परा में इस तरह के १४ कुलकरों की मान्यता है। प्रत्येक कुलकर ने व्यवस्था में कुछ न कुछ सुधार किये और उसी अनुपात में अन्य अनेक समस्याएँ भी जन्म लेती रहीं। अन्तिम कुलकर नाभि थे। इनके समय तक एक और जहाँ अपराधों की वृद्धि हुई वहाँ हाकार, माकार और धिक्कार जैसी न्यायसंगत दण्ड व्यवस्था का भी प्रादुर्भाव हुआ। इससे युगल भीतर रहते और सीमित कल्पवृक्षों के उपयोग से अपना जीवन-यापन करते रहते थे।

क्रमशः इस स्थिति में भी परिवर्तन हुआ। अन्तिम कुलकर नाभि के समय यौगलिक सभ्यता क्षीण होने लगी। यह यौगलिक सभ्यता और आज की तथाकथित आधुनिक सभ्यता का सन्धिकाल था। कुलकर नाभि और उनकी पत्नी मरुदेवी के जो युगल उत्पन्न हुआ उसको प्रथम बार नामकरण संस्कार के द्वारा नाम प्रदान किये गये। पुत्र का नाम ऋषभदेव एवं सहजात कन्या का नाम सुमंगला रखा गया। घटना विशेष को लेकर पृथक-पृथक समूहों के पृथक-पृथक वंश बनाना प्रारम्भ हो गये। और विभिन्न परम्परायें चालू हो गयीं।

ऋषभदेव के बाल्यकाल में एक अद्भुत घटना घटी। एक युगल अपने पुत्र व पुत्री को एक ताड़ के वृक्ष के नीचे बैठाकर स्वयं कदलीवन में क्रीड़ा के लिए चला गया। दैवयोग से एक बड़ा फल टूटा और किसलय के समान कोमल इस पुत्र पर पड़ा। उसकी अकाल ही मृत्यु हो गयी। यह पहली अकाल मृत्यु थी। यौगलिक माता-पिता के देहान्त के बाद वह कन्या अकेली विचरण करने लगी। लोगों को यह नया अनुभव हुआ। उन्होंने उस कन्या को ले जाकर नाभि को सौंप दिया। नाभि ने ऋषभदेव के यौवन प्राप्त करने पर सहजात सुमंगला और उस अकेली कन्या सुनन्दा का उनसे विवाह कर दिया। अपनी बहिन के अतिरिक्त दूसरी कन्या के साथ भी विवाह सम्बन्ध हो सकता है, इसका यह पहला प्रयोग था। सुमंगला ने

भरत व ब्राह्मी को जन्म दिया और सुनन्दा ने बाहुबलि और सुन्दरी को। आगे चलकर इन्होंने भी इस नयी वैवाहिक परम्परा को अपने सम्बन्धों द्वारा पुष्ट किया।

उस समय की तात्कालिक अराजकता ने राज्य व्यवस्था को जन्म दिया। लोग अपनी शिकायत लेकर नाभि के पास पहुँचे। उन्होंने ऋषभदेव को उनका राजा घोषित किया। प्रजा ने ऋषभदेव का राज्याभिषेक किया। ऋषभदेव ने राजा का कर्तव्य निभाते हुए आवास समस्या के समाधान हेतु नगर-ग्राम बसाये। ग्रयोध्या का निर्माण सर्वप्रथम हुआ। मन्त्रीमण्डल का निर्माण किया गया। आरक्षक वर्ग की स्थापना हुई। राज्यशक्ति की सुरक्षा के लिए सेना और सेनापति रखे गये। और इस तरह मानव-सभ्यता के आदि युग का प्रारम्भ हुआ।

इस युग के प्रारम्भ होते ही खाद्य-समस्या ने जोर पकड़ा। कन्दमूल, फल, पुष्प, पत्र आदि के साथ कृषि द्वारा उत्पन्न गेहूँ, चने, धान आदि अनाज का भी व्यवहार होने लगा। किन्तु पाचन-क्रिया के अभाव में प्राणियों को यह भी हितकर नहीं हुआ। लेकिन समस्या जन्मते ही समाधान भी प्रस्तुत था। एक दिन नई घटना घटी। वृक्षों के परस्पर टकराने से अग्नि की उत्पत्ति हुई। ऋषभदेव ने उसके उपयोग की रीति बतलाई। अन्न पकाकर खाया जाने लगा। अतः इस पाक-विद्या के साथ ही साथ मिट्टी के पात्र-निर्माण का कार्य भी प्रारम्भ हुआ और शिल्प ने जन्म लिया।

जीवन और अधिक सरस व शिष्ट हो और व्यवहार अधिक सुगमता में चल सके, इसके लिये ऋषभदेव ने कला, लिपि व गणित का ज्ञान भी दिया। यह परम्परा सर्वप्रथम उनके घर से ही प्रारम्भ हुई। भरत ने ७२ कलाओं का ज्ञान किया। बाहुबलि ने प्राणी-लक्षण सीखे। पुत्री ब्राह्मी ने १८ लिपियों का ज्ञान किया और सुन्दरी ने गणित का। व्यवहार-साधन के लिए मान (माण), उन्मान (तोला, मासा आदि), अग्रमान (गज, फुट, इन्च आदि) व प्रतिमान (छटांक, सेर, मन आदि) व्यापारिक कलाएं भी प्रारम्भ हुईं। धीरे-धीरे अन्य सभी कलाएं एवं शिल्प विकसित हो गये।

ऋषभदेव-कालीन इस सामाजिक व्यवस्था की उन्नति के समय व्यष्टि लगभग टूट गई। समष्टि काफी मात्रा में विकसित हो गई। इस प्रणाली से जहाँ मनुष्य का जीवन कुछ सुखमय बना, बढ़ते हुए विकार रुके, वहाँ ममत्व, स्वार्थ व उनसे प्रतिस्पर्धा आदि विकार बढ़ने लगे। पहले मनुष्य के समक्ष सारा प्राणी-जगत् ही अपना बन्धु था। सबके प्रति मैत्री-भाव थे। वहाँ ममत्व की वह कल्पना बल पकड़ने लगी—यह मेरा पिता, भाई, पुत्र, माता एवं पत्नी है। इस प्रकार के कौटम्बिक ममत्व के अनन्तर लोकेषणा व घनेषणा भी विकसित हुई।

इस प्रकार ऋषभदेव के समय तक भारत की प्राचीन संस्कृति एक सुनिश्चित एवं समुन्नित स्वरूप धारण कर चुकी थी। कला, साहित्य, धर्म, दर्शन आदि सभी का देश में व्यापक प्रभाव था। प्रश्न अब यह है कि उक्त संस्कृति की संगति भारतीय संस्कृति के ऐतिहासिक विकास-क्रम में कहां और किस प्रकार बँठती है तथा उसकी परम्परा का आज क्या स्वरूप है ? उसकी क्या विशेषताएं हैं ?

मानव संस्कृति एवं सभ्यता का जैन परम्परा ने जो चित्र उपस्थित किया है वह निराधार नहीं है। भारत का इतिहास देश की उम काल की व्यवस्था के वर्णन से प्रारंभ होता है जब आधुनिक नागरिक सभ्यता का विकास नहीं हुआ था। जन-साधारण समग्र रूप से जंगलों के आधीन था। उसकी दैनिक आवश्यकताएं वृक्षों से पूरी होती थीं। जैन-परम्परा ने ऐसे वृक्षों को, जो मनुष्यों की सब इच्छाओं की पूर्ति कर सकें, कल्पवृक्षों का नाम देकर अपनी सूभबूझ का परिचय दिया है। समूचे मानव-जीवन का नाम कल्पवृक्ष है, जिसके द्वारा व्यक्ति अपने सर्वोत्कृष्ट अभीष्ट की भी प्राप्ति कर सकता है।

जैन पुराणकारों ने जिस परिस्थिति के युग को भोगभूमि का नाम दिया है वह भारतीय सभ्यता के उस युग का द्योतक है जब कोई कौटम्बिक व्यवस्था नहीं थी। माता-पिता अपने ऊपर सन्तान का कोई उत्तरदायित्व ही अनुभव नहीं कर पाते थे। पाप-पुण्य, ऊँच-नीच, धर्म-अधर्म आदि किन्हीं द्वन्दात्मक प्रवृत्तियों ने जब जन्म नहीं लिया था। जहाँ भोग प्रधान था एवं कर्म गौरा।

जिसे हम आधुनिक सभ्यता का प्रारम्भिक युग कहते हैं उसे ही जैन चिन्तकों ने कर्मभूमि का नाम दिया है। इसी युग से मनुष्य कृषि, अपि, मपि, शिल्प आदि जीविका के कार्यों को करना प्रारम्भ करता है। अतः इस प्रकार यदि थोड़ी गहराई से देखें तो भारतीय सभ्यता के प्रारम्भिक युग के पूर्व की मानव सभ्यता का जैन परम्परा के अनुसार जा विवरण प्रस्तुत किया गया है उसमें सचाई तो है ही, प्रस्तुतीकरण में वैज्ञानिकता भी कम नहीं है।

भगवान् ऋषभदेव द्वारा प्रवर्तित एवं परिवर्द्धित जैन संस्कृति की परम्परा का एक निश्चित क्रम हमें उपलब्ध होता है। इस परम्परा को विकसित करने में मुख्यतया तीन आधार परिलक्षित होते हैं। स्वयं ऋषभदेव, उनके बाद के 22 तीर्थङ्कर तथा भगवान् महावीर और उनकी शिष्य-परम्परा।

### भगवाव ऋषभदेव

ऋषभदेव के समय की सभ्यता एवं संस्कृति मानव के प्रारम्भिक स्वरूप की द्योतक है। उस समय मानव इतना सरल और जड़ था कि उसे अपने स्वयं के पेट भरने का ज्ञान नहीं था। भगवान् ऋषभदेव ने उसे कर्म करने की प्रेरणा दी। उसकी बुद्धि को स्फुरित किया। पुरुषार्थ को जगाया। तब वन-सभ्यता में जीने

वाला मानव नगर सभ्यता के निर्माण में जुट गया और धीरे-धीरे सुख-समृद्धि का स्वामी हो गया, संस्कृति का वाहक। इस संस्कृति की अपनी एक मौलिक विशेषता थी, जिस कारण वह बाद में विकसित अन्य संस्कृतियों के साथ गतिशील होने पर भी अपने प्रलग अस्तित्व की परम्परा रख सकी। ऋषभदेव के उपरान्त आने वाले अजितनाथ आदि विभिन्न तीर्थङ्करों ने इस संस्कृति का पोषण किया और उक्त सदाचार प्रधान योगधर्म का पुनः प्रचार किया, जिसे श्रमण धर्म के नाम से आज हम जानते हैं।

श्रमण परम्परा का प्रारम्भ जिस संस्कृति से हुआ वह आर्य एवं वैदिक संस्कृति के पूर्व की थी। सिन्धु घाटी की सभ्यता के समय जिस संस्कृति का आभास अनुमान आज हम लगाते हैं वह श्रमण संस्कृति से अधिक साम्य रखती है, जिसे आज द्रविण संस्कृति कहते हैं। क्योंकि मूर्ति पूजा, नग्न देवताओं की अर्चना, सर्प, यक्ष, किन्नर आदि लौकिक-देवताओं की तथा शिव-भक्ति आदि के उल्लेख मानव की उस प्रारम्भिक अवस्था की ओर संकेत करते हैं जो ऋषभदेव से प्रारंभ हुई थी।

### बाईस तीर्थङ्कर

सिन्धुघाटी सभ्यता में प्राप्त अवशेषों के आधार पर प्रतीत होता है कि उसके पुरस्कर्ता प्राचीन विद्याधर जाति के लोग थे। तथा उनके प्रेरक एवं धार्मिक मार्गदर्शक मध्यदेश के वे मानववंशी मूल आर्य थे, जो तीर्थङ्करों के आत्मधर्म और श्रमण संस्कृति के उपासक थे। तीसरे तीर्थंकर सम्भवनाथ से लेकर नौवें तीर्थंकर पुष्पदन्त तक का काल सिन्धु सभ्यता के विकास का काल माना जा सकता है। सम्भवनाथ का विशेष चिन्ह अश्व है और सिन्धु देश चिरकाल तक अपने सैन्धव अश्वों के लिए प्रसिद्ध रहा है। मौर्यकाल तक सिन्धु में एक सम्भूतर जनपद और सांभव (संबूज) जाति के लोग विद्यमान थे, जो बहुत सम्भव हैं तीर्थंकर सम्भवनाथ के मूल अनुयायियों की ही वंशपरम्परा में रहे हों। इसी तरह इस सभ्यता में नागफण के छत्र से युक्त योगी-मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं, जो सातवें तीर्थंकर सुपाश्व की हो सकती हैं। इनका चिन्ह स्वस्तिक है और तत्कालीन सिन्धु घाटी में स्वस्तिक एक अत्यन्त लोकप्रिय चिन्ह दृष्टिगोचर होता है। सुपाश्व से पुष्पदन्त पर्यन्त का काल इस सभ्यता के विकास का काल है। इसी समय हड़प्पा की सभ्यता का विकास प्रारम्भ हुआ लगता है। जैन संस्कृति की इसी प्राचीनता के कारण सम्भवतया उसे अनादि कहा गया है।

वैदिक संस्कृति के विकसित स्वरूप और शिष्ट वातावरण को देख कर यही लगता है कि अपने पूर्व की लौकिक संस्कृति के विपरीत एवं प्रतिक्रिया स्वरूप इसका विकास हुआ है। इस प्राचीन संस्कृति के लौकिक देवताओं का स्थान इन्द्र, वरुण आदि समृद्धिशाली देवताओं ने ले लिया। संयम और साधना की जगह विभिन्न प्रकार के हिंसक यज्ञों ने ले ली। परमपद की प्राप्ति के स्थान पर केवल इहलौकिक

सुख और स्वर्ग की प्राप्ति तक ही घामिक कार्यों का उद्देश्य रह गया। फिर भी अहिंसा और अध्यात्म के तत्त्व श्रमण संस्कृति के माध्यम अस्तित्व में बने रहे।

भगवान्, ऋषभदेव के समय की संस्कृति ने केवल वैदिक संस्कृति को ही प्रभावित नहीं किया बल्कि उसके कुछ मौलिक तत्व बाद में भी अपना अस्तित्व बनाये रहे और विकसित होते रहे। ऋग्वेद में वातरश्ना मुनियों का उल्लेख, बाद में ब्राह्मणों एवं यतियों की जीवनचर्या के वर्णन तथा ऋषभदेव आदि के उल्लेख इस बात के प्रमाण हैं कि एक अवैदिक साधकों की परम्परा निरन्तर गतिशील रही है, जिससे बाद के क्रान्तिकारी साधकों ने जन्म लिया है।

ऋषभदेव के बाद और नेमिनाथ के पूर्व के बीस तीर्थंकरों के समय की संस्कृति का यद्यपि कोई विवरण प्राप्त नहीं है। केवल उनकी जीवनी आदि के उल्लेख मिलते हैं। लेकिन उनकी ऐतिहासिकता में सन्देह करने का कारण भी नहीं दिखायी पड़ता। जैन-परम्परा इस बात को मानकर चलती है कि भगवान् ऋषभ के समय लोग सरल और अज्ञानी (ऋजु जड़) थे अतः उनको कर्म के लिए प्रेरित कर तैयार करना बहुत जरूरी था। वह ऋषभदेव ने किया। और उसका जैन पुराणकारों ने विस्तृत विवरण भी प्रस्तुत किया है। लेकिन बाद के तीर्थंकरों के समय के लोग सरल और बुद्धिमान (ऋजु-प्रज्ञ) हो गये थे। जो बात एक बार समझा दी जाती थी उसका वे आचरण करने लगते थे। अतः उनमें किसी विशेष परिवर्तन की आवश्यकता नहीं थी। तीर्थंकर होते रहे। अपने कल्याण के साथ ही साथ उपदेश देकर दूसरों का कल्याण भी करते रहे। सबकी सभी क्रियाएं जैन-मान्यता के अनुसार समान थीं। अतः किसी एक का कोई विशेष विवरण साहित्य में नहीं दिया गया।

परन्तु तीर्थंकर नेमिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर के समय के लोगों की प्रवृत्ति कुछ भिन्न थी। अतः उनके साथ कुछ विशेष घटनाएँ घटीं और उनके जीवन-चरित का विवरण देना आवश्यक हो गया। वही इतिहास बन गया। नमि मिथिला के राजा थे। इन्हें हिन्दू पुराणों में भी जनक का पूर्वज माना गया है। नमि की प्रव्रज्या एवं तपस्या का वर्णन समान रूप से जैन, वैदिक एवं बौद्ध परम्परा के प्राकृत, संस्कृत और पालि साहित्य में यत्र-तत्र मिलता है, जो भारतीय अध्यात्म सम्बन्धी निष्काम कर्म व अनासक्ति भावना के प्रकाशन के लिए सर्वोत्कृष्ट साधन हैं। नमि की अनासक्ति वृत्ति मिथिला में जनक तक पायी जाती है और शायद इसी कारण वंग और उनका समस्त प्रदेश विदेह (देह से निर्मोह, जीवनमुक्त) कहलाया।

भगवान् पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता अब प्रामाणिक हो चुकी है। पार्श्वनाथ का जैन संस्कृति पर गहरा प्रभाव पड़ा। ऋषभदेव की सर्वस्व त्यागरूप अकिंचन, मुनिवृत्ति, नमि की निरोहता व नेमिनाथ की अहिंसा को उन्होंने अपने चातुर्याम



रूप सामयिक धर्म में व्यवस्थित किया, जिससे अहिंसा, सत्य, अचौर्य व अपरिग्रह आदि के सिद्धान्त प्रतिफलित हुए ।

### महावीर और उनकी शिष्य-परम्परा

अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर का समय एक विशेष प्रकार की परिस्थिति से गुजर रहा था । इस समय के लोग ऋजु-भड़ और ऋतु-प्राज्ञ की जगह वक्र-जड़ हो चले थे । अज्ञानी तो थे ही अनाड़ी भी थे । अतः इस समय एक विशेष प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता थी । केवल सैद्धान्तिक विवेचन मात्र से काम चलने वाला नहीं था । अतः महावीर ने पार्श्वनाथ के चातुर्याम को ध्यान में रखते हुए पंचव्रतों का प्रसार किया, जिममें अहिंसा प्रधान थी । तथा इन सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप देने के लिए उन्होंने मुनि, आर्यिका, श्रावक एवं श्राविका के रूप में चतुर्विध संघ को व्यवस्थित एवं प्रयोगात्मक रूप प्रदान किया तथा महाव्रत और अणुव्रतों द्वारा उनकी साधना को मर्यादित किया ।

इस प्रकार जैन संस्कृति भगवान् ऋषभदेव के समय की प्राची से उदित हो महावीर तक देदीप्यमान हो उठी । इस बीच उसने बिना किसी भेदभाव के समस्त मानव-जगत् को आलोकित किया । समय द्वारा मानव को मानसिक शान्ति प्रदान की, अपरिग्रहवाद का उदघोष कर उसे लिप्सा और दमन से बचाया तथा अहिंसा जैसे सर्वव्यापी सिद्धान्त का प्रचार कर प्राणीमात्र को सुरक्षा प्रदान की । हिंसक यज्ञों का विरोध कर देश की आर्थिक परिस्थिति को सुदृढ़ किया ।

भगवान् महावीर के बाद जैन संस्कृति के प्रवाह में अनेक मोड़ आये । महावीर की शिष्य-परम्परा ब्राह्मण विद्वानों से प्रारम्भ हुई और बाद में भी प्रायः वैदिक क्रियाकाण्डों की व्यर्थता को समझकर अनेक ब्राह्मण विद्वानों ने श्रमण संघ के नायकत्व को सम्हाला । यह बात जितने आश्चर्य की है, उतने ही गौरव की । वैदिक क्रियाकाण्ड के पोषक ब्राह्मण जैन धर्म से प्रभावित होकर उसके प्रसार-प्रचार का कार्य सम्हाले यह कोई छोटी बात नहीं है । किन्तु गहराई से विचार कर देखे तो यही प्रतीत होता है कि एक ओर जैन धर्म के आचार्यों ने जहाँ अपनी प्रतिभा और व्यक्तित्व के द्वारा इन ब्राह्मण विद्वानों के हृदय में द्विसक क्रियाकाण्डों की निस्सारता स्थापित की, वहाँ जैन धर्म के मानव-कल्याणकारी कुछ सिद्धान्तों ने भी इन ब्राह्मणों को कम आकर्षित नहीं किया ।

ब्राह्मण विद्वानों द्वारा जैन संघ के नायकत्व को सम्हाल लेने में श्रमण संस्कृति को दुहरा फायदा हुआ । प्रथम, इन ब्राह्मण विद्वानों के द्वारा, जो वैदिक समाज के बहुभाग का प्रतिनिधित्व करते थे, अपने सम्प्रदायों और मान्यताओं को छोड़कर जैन धर्म को स्वीकार कर लेने पर अन्य वैदिक मताबलम्बी साधारण लोग अपने आप जैन धर्म के प्रति सहिष्णु हो गये । अपने आचार्यों को जैन धर्म में दीक्षित

होते देख उनका अनुकरण करने लगे। इससे सर्वसाधारण तक अनायास ही जैन धर्म प्रचारित हो गया। दूसरे, जैन संस्कृति की अनेक बातें वैदिक साहित्य व समाज में स्वीकार कर ली गईं। इस सहिष्णुता के वातावरण में जैनाचार्यों के प्रयत्नों और अनेक राजाओं के सहयोग से जैन धर्म भारत के विभिन्न प्रान्तों में क्रमशः विकसित होता रहा।

इस प्रकार मानव सभ्यता के साथ उदित होकर जैन संस्कृति निरन्तर गतिशील होती रही। ऋषभदेव के समय से जनसाधारण को सुसंस्कृत बनाती हुई, भारतीय संस्कृति को करुणा और साधना का सन्देश देती हुई, अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर द्वारा ईसा पूर्व छठी शती में सुव्यवस्थित स्वरूप पाकर उनके अनुयायियों द्वारा देशव्यापी बन गयी। उसने समय-समय पर उत्तर और दक्षिण भारत के विभिन्न राजवंशों एवं बहुजन समाज को प्रभावित किया तथा अपने आन्तरिक गुणों एवं विशेषताओं के फलस्वरूप वह अविच्छिन्न धारावाही रूप से आज तक देश में अपना अस्तित्व सुरक्षित रखे हुए है।



## जैन संस्कृति का वैशिष्ट्य

“जिन आन्तरिक गुणों के बल पर जैन धर्म गत तीन-चार हजार वर्षों से इस देश के जन-जीवन में व्याप्त है, वे हैं—उसकी आध्यात्मिक भूमिका, नैतिक विन्यास एवं व्यावहारिक उपयोगिता और सन्तुलन।” डा० हीरालाल जैन के इस कथन की पुष्टि जैन संस्कृति की निम्न कतिपय विशेषताओं को स्पष्ट करने से हो जाती है।

### तत्त्वज्ञान-निरूपण

मानव जीवन के विश्लेषण के लिए जैन धर्म के प्रवर्तकों ने सम्पूर्ण विश्व का विभाजन जीव और अजीव इन दो तत्त्वों में किया है। यही दो तत्त्व सम्पूर्ण सृष्टि के मूल आधार हैं। इन दोनों का पारस्परिक स्वाभाविक सम्पर्क संसार के प्राणियों की अनन्त दशायें हैं। इस सम्पर्क का आगमन और बन्धन ही प्राणियों का भाग्य-निर्माता है, जो नाना क्लुषित भावनाओं से संभव है। तथा इसी सम्पर्क का निरोध और सर्वथा विनाश, जो मन-वचन-काय के संघम से सम्भव है, उस सर्वोत्कृष्ट अवस्था का उद्घाटक है जिसे प्राप्त करना समस्त धार्मिक क्रियाओं व आचरण का अन्तिम ध्येय है। जड़ और चेतन की इस तत्त्व-व्यवस्था का, विज्ञान का चरम विकास भी विरोध नहीं कर सका, आगे चल कर वह उसे प्रामाणिकता भले प्रदान करे। इस तत्त्वज्ञान की जानकारी के अभाव में प्राणी भ्रान्त हुए भटकते और बन्धन में पड़े रहते हैं। अतः इस तथ्य की ओर सच्ची दृष्टि, उसके सच्चे ज्ञान और तदनुसार आचरण करने की प्रेरणा जैन संस्कृति ने दी है। ज्ञान और विज्ञान के समन्वय का यह आदर्श उदाहरण है।

### उदार वैचारिक दृष्टि

जैन संस्कृति का दर्शन पक्ष जितना समृद्ध है, उतना व्यावहारिक भी। जैन धर्म ने तत्त्व-विचार की एक मौलिक अतिशय दिव्य पद्धति जगत् को प्रदान की है। समय-समय पर इसके दिग्गज आचार्यों ने सत्य को परखने का जो मार्ग प्रशस्त किया है, उससे अन्य दार्शनिकों को अपने चिन्तन को व्यापक करने का मौका मिला है। जैन दर्शन अपनी इसी उदारता के कारण सबके साथ सामंजस्य रख सका है। उसकी

उदार वैचारिक दृष्टि को समझने के लिए अनेकान्तवाद और स्याद्वाद को ही समझ लेना पर्याप्त है ।

परस्पर विरोधी विचारों के प्रवाह होने का आधार वस्तु का अनेक धर्मा होना है । प्रत्येक वस्तु अपने स्वभाव में, गुणों में और सम्पन्नता में अनन्तता से युक्त है । अतः पृथक्-पृथक् दृष्टिकोण से वस्तुओं को समझना और विभिन्न दृष्टिकोणों को समुचित रूप से समन्वित करने का प्रयास ही अनेकान्तवाद है । तथा अनेकान्तवाद सिद्धान्त को व्यक्त करने वाली सापेक्ष भाषा-पद्धति ही स्याद्वाद है । इसका अर्थ है, वस्तु के जिस पक्ष को लेकर हम बोल रहे हैं केवल वही सत्य नहीं है, उसका दूसरा अंश भी सत्य हो सकता है । अतः उसके जानने वाले को भी अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता है ।

इस प्रकार जैन दर्शन अनेकान्त के रूप में तत्त्वज्ञान की यथार्थ दृष्टि प्रदान कर एक ओर सत्य का दिग्दर्शन करता है तो दूसरी ओर स्याद्वाद के द्वारा दार्शनिक जगत् में समन्वय के लिए सुन्दर आधार तैयार करता है । यदि तत्त्व की विचारणा और सत्य की गवेषणा में सर्वत्र अनेकान्त दृष्टि अपनाई जाय तो धार्मिक संघर्ष, दार्शनिक विवाद, पंथों की नाकाबन्दी और सम्प्रदायों का कलह स्वयमेव तिरोहित हो जाय । इससे मानव-संस्कृति की आत्मा को भी आघात नहीं पहुँचता तथा समत्व दर्शन की प्रेरणा को बल मिलता है । मनुष्य की दृष्टि उदार, विशाल और सत्योन्मुखी बनती है ।

### समता का उद्घोष

जैन धर्म द्वारा प्रणीत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यग्चारित्र के मूल मंत्र में प्राणी मात्र का कल्याण निहित है । और विरोध में सामन्जस्य, कलह में शान्ति व जीव मात्र के प्रति आत्मीयता का भाव उत्पन्न करना ही इस त्रिरत्न की साधना है । इसकी आनुपांगिक साधनाएँ हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तैय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप नियम तथा क्षमा, मृदुता आदि गुण । नाना प्रकार के व्रतों और उपवासों, भावनाओं, तपस्याओं और योगों का उद्देश्य विश्वजनीन आत्मवृत्ति प्राप्त करना है । समत्व का बोध और अभ्यास करना ही अनेकान्त व स्याद्वाद जैसे सिद्धान्तों का साध्य है ।

समता जैन संस्कृति में कितनी व्यापक एवं अभिन्न है, यह दृष्टव्य है । जैन धर्म का मूल नाम श्रमण धर्म (समण धम्म) है । भगवान् महावीर को 'समण-भगवं महावीरं' आदि सम्बोधन दिये गये हैं । 'श्रमण' शब्द का अर्थ ही है—उपशमन करना, समता का व्यवहार करने वाला । दोनों अर्थ सार्थक हैं । समत्व का उपासक व्यक्ति शांत होगा ही । और ऋषायों के उपशमन बिना कोई व्यक्ति समत्व या समता पा भी नहीं सकता । इस तरह परम-समत्व की वृत्ति की साधना ही जिनके

जीवन का लक्ष्य निश्चित होता है, ऐसे वीतरागी रागद्वेष के विजेता ही जिन कहलाते हैं। उनके उपासक ही जैन। उनके द्वारा प्रणीत आचार धर्म जैन धर्म। उनकी तात्विक विचारधारा ही जैन दर्शन और इन सबका समिश्रण ही जैन संस्कृति है।

यह समता जैन धर्म के प्रत्येक सिद्धांत से उद्घोषित होती है। अहिंसा समत्व की पहली और सीधी सीढ़ी है। समस्त प्राणियों में एकता और समता का विस्तार ही अहिंसा है। विषमता को तिरोहित करना ही पर्याप्त है, समता तो है ही। असत्य, क्रोध, भय, लोभ व हास्यात्मक व्यंग्य के व्यवहार से विषमता जन्मती है। चोरी कर अपने को समृद्ध और दूसरे को क्षीण बनाना विषमता है। राग-भाव के असन्तुलन का परिणाम ही विषय-लोलुपता है। तथा परिग्रह तो स्पष्ट रूप से विषमता का प्रतीक है। इन समस्त विषमताओं के विनाश के लिए ही अहिंसा, सत्य, अवीर्य, ब्रह्मचर्य एवं अरिग्रह द्वारा समता की साधना पूर्ण समदर्शी पद तक पहुँच जाती है, वही जीवन का परम सत्य है, मोक्ष है।

### जैनाचार का नैतिक आदर्श

जैन संस्कृति के नैतिक आदर्श जैन धर्म की विशुद्ध आचार-प्रक्रिया पर आधारित हैं। जैन धर्म में जितना विचारपक्ष को पुष्ट किया गया है उतना ही आचार पक्ष को। आचार की शुद्धि के लिए साधु एवं गृहस्थ दोनों के लिए कुछ नित्य कृत्यों का विधान है। सामायिक द्वारा व्यक्ति समभाव की साधना करता है। तीर्थंकरों के स्तवन से अपने भावों को पवित्र रखने की प्रेरणा लेता है। पूज्यनीय पुरुषों की बन्दना कर विनय अर्जित करता है। प्रतिक्रमण के द्वारा प्रमादवश हुई भूलों का पश्चात्ताप एवं प्रमार्जन करता है। कायोत्सर्ग द्वारा शरीर के ममत्व को घटाने का अभ्यास करता हुआ प्रत्यख्यान द्वारा अपनी समस्त इच्छाओं के निरोध का प्रयत्न करता है। इस तरह का दैनिक अभ्यास एक दिन साधक को साधना की उस भूमि पर ला खड़ा करता है जहाँ नैतिकता के सारे आदर्श पूर्ण हो जाते हैं। और वह मुक्ति प्राप्ति के प्रयत्न में रत हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति जैन संस्कृति की इस आचार प्रक्रिया को जिस दिन अपना लेगा सारी अनैतिकता उसी क्षण तिरोहित हो जायेगी।

### कर्मवाद : व्यक्ति-स्वातन्त्र्य

जैनाचार की मूल भित्ति कर्मवाद है। इसी पर जैन संस्कृति का अहिंसावाद, अरिग्रह एवं अनीश्वरवाद प्रतिष्ठित है। मन, वचन, काय की प्रवृत्तियों और कषायों के द्वारा प्रात्मा में मलीनता का आना ही कर्मबन्धन है। अहिंसा आदि व्रतों के द्वारा संयम की साधना कर्मबन्धन को रोक देती है। और मन, वचन, काय की अक्षण्ड एकाग्रता बासनाओं को क्षीण कर तप को जन्म देती है, जिससे पूर्व संचित कर्म कटने लग जाते हैं। जिस समय अन्तः-बाह्य तपों के द्वारा अज्ञान के सारे आवरण दह

जाते हैं, उस समय आत्मा से निर्लिप्त हो मुक्त हो जाती है। धीरे-धीरे ऐसी अवस्था आती है जिसमें अन्दर और बाहर की समस्त सूक्ष्म और स्थूल क्रियाएं एक जाती हैं। मन का व्यापार भी निरुद्ध हो जाता है। आत्मा पूर्ण परमात्मस्थ हो जाती है। यह साधना का अन्त है। मुक्ति की प्राप्ति है।

कर्मवाद की इस व्यवस्थित शृंखला से स्पष्ट है कि व्यक्ति अपने अच्छे बुरे कार्य के लिए स्वयं जिम्मेवार है। ईश्वर जैसी उस हस्ती की उसे कोई आवश्यकता नहीं जो उसे संसार के दुखों से छुड़ाने के लिए अवतरित होती रहे। अतः जैन धर्म के तत्त्वज्ञान और कर्मवाद के सिद्धान्त ने व्यक्ति स्वातन्त्र्य का जो आदर्श उपस्थित किया है, वह अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।

### मरण-महोत्सव

जन्म, जीवन और मरण इनका परस्पर अभिन्न सम्बन्ध है। केवल एक के शोधन से शेष दो में पवित्रता नहीं आ जाती। अतः जैन संस्कृति में जैसे जन्म और जीवन को सुधारने का प्रयत्न किया गया है, वैसे भी मरण को। जीने की कला में निपुण होना जितना आवश्यक है, मरने की कला सीखना उतना ही अनिवार्य। क्योंकि जन्म और जीवन से छुटकारा देने वाला मरण ही है, कारावास से छुटकारा देने वाले जेलर की तरह। अतः जैनाचार्यों ने मरण को एक महोत्सव के रूप में स्वीकार किया है। जीवन को साधने से अधिक प्रयत्न मरण को साधने में किया है।

इस तरह के मरण को समाधि-मरण या संल्लेखना कहा गया है। शुद्ध आत्मस्वरूप पर मन को केन्द्रित करते हुए प्राणों का विसर्जन समाधि-मरण है। सम्यक (सत्) रूप से काय और कषाय को कृश करना (लेखना) संल्लेखना है। अर्थात् बाह्य और अन्तर्गत बन्धनों का सहर्ष त्याग ही समाधि-मरण है। जैन धर्म गृहस्थ एवं साधु दोनों के लिए इस तरह मृत्यु का स्वागत करना परम कर्तव्य मानता है। मरण-काल के उपस्थित होने पर आत्मा की अमरता का ध्यान करते हुए अपने समस्त व्यामोह को विसर्जित कर मृत्यु की अगवानी करना कितनी बड़ी समाधि है। जिसका अन्त ऐसा पवित्र एवं निर्बन्ध हो उसका भविष्य अपने आप सुधरा हुआ है।

इसीलिए जैन संस्कृति का उद्घोष है—जब तक जियो, ध्यान और समाधि की तन्मयता में जियो, अहिंसा और सत्य के प्रसार के लिए जियो, और जब मृत्यु आये तो आत्म-साधना की पूर्णता के लिए मृत्यु का भी समाधिपूर्वक वरण करो। मृत्यु के आने से मन की एकाग्रता, ध्यान में तन्मयता का आनन्द लो। इसे ध्यान में रखते हुए ही जैन साधु व गृहस्थ समाधि-मरण की आयोजना करते हैं।

समाधि-मरण को आत्मघात समझना नितान्त भूल व अज्ञानता है। शरीर का मोह त्याग और आत्मघात दोनों एक बात नहीं है। पहले में संसार की वास्तविकता को समझकर शरीर से ममत्व हटाने की बात है, और दूसरे में संसार से

घबड़ाकर शरीर को नष्ट करने का प्रयास है। एक में संयम की साधना है तो दूसरे में असंयम और भावावेश की तामसिकता। अतः आत्मघात और समाधिमरण दो नितान्त विरोधी बातें हैं। जैन साहित्य में समाधिमरण की तैयारी के लिए जो आयोजन है उससे यही प्रतीत होता है मानों किसी महोत्सव की तैयारी हो रही हो। वास्तव में, जिनका पुनर्जन्म या भावी जीवन सुधार रहा हो उसके लिए तो मरण एक महोत्सव ही है। मृत्यु का ऐसा स्वागत अन्यत्र देखने को नहीं मिलता।

### सन्तुलित समाज-व्यवस्था

जैन संस्कृति की यह ऐसी एक विशेषता है जिसके कारण आज भी उसका स्थायित्व अपनी भूमि पर बना हुआ है। समाज को श्रमण और श्रमणोपासक केवल इने दो भागों में विभाजित करना जनाचार्यों की दूरदर्शिता को सूचित करता है। भारत में ही क्या, विश्व में प्रत्येक धर्म के साथ यह विभाजन है। वैदिक, पारसी एवं मुस्लिम धर्मों में यद्यपि साधुओं का विधान है, किन्तु उनकी जीवन-चर्या गृहस्थों से अधिक भिन्न नहीं है। ऐसी दुविधा में कोई एक जीवन भी नहीं सध पाता। दूसरी और बौद्ध धर्म में यद्यपि साधु जीवन को बहुत साधा, लेकिन वह गृहस्थ को न सम्हाल सका। केवल प्रव्रज्या के ग्राह्वान ने समाज को अस्त-व्यस्त जरूर किया होगा। उसके भारत में न टिक पाने का एक कारण यह भी हो सकता है।

जैन संस्कृति के अन्तर्गत साधु एवं गृहस्थ दोनों जीवन की अपनी निजी मर्यादाएं हैं। अपनी अलग साधनाएं। व्यक्ति की क्षमता और परिस्थिति दोनों को ध्यान में रखकर जैन धर्म प्रचारित हुआ। वर्गीकृत हुआ। कर्मों के आगमन को रोकने के लिए गृहस्थ जीवन में अणुव्रतों का विधान है। व्रत-उपवासों की साधना है। पर्व-त्योहारों का महत्त्व है। सचित कर्मों के सर्वथा विनाश के लिए महाव्रतों का पालन संयम की साधना एवं तपश्चरण अनिवार्य है। अतः उसकी साधना के लिए निर्मोही अवस्था में अना आवश्यक है, जो साधु-जीवन में ही संभव है। जैन धर्म ने इसीलिए साधु एवं गृहस्थ दोनों जीवन में सन्तुलन बनाए रखा। दोनों की अलग-अलग दैनिक-चर्या एवं साधना आदि के नियम निश्चित किये। साधुओं के लिए महाव्रतों और गृहस्थों के लिए अणुव्रतों का विधान पूर्ण रूप से व्यावहारिक है।

पांच अणुव्रतों के स्वरूप पर विचार करने से एक तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इन व्रतों के द्वारा मनुष्य की उन वृत्तियों पर नियन्त्रण करने का प्रयत्न किया गया है, जो समाज में मुख्य रूप से बर-विरोध की जनक हैं। दूसरा यह बात ध्यान देने योग्य है कि आचरण का परिष्कार सरलतम रीति से कुछ निषेधात्मक नियमों द्वारा ही किया जा सकता है। व्यक्ति जो क्रियाएँ करता है वे मूलतः उनके स्वार्थ से प्रेरित होती हैं। उन क्रियाओं के हिताहित का निर्णय किसी माप-दण्ड के निश्चित होने पर ही संभव है। हिंसा, भूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह आदि सामाजिक पाप ही तो हैं। जितने ही अंश में व्यक्ति इनका परित्याग करेगा, उतना

ही वह सम्य और समाज-हितैषी बनता जायगा और जितने अधिक व्यक्ति इन व्रतों का पालन करेंगे उतना ही समाज सुखी, शुद्ध और प्रगतिशील बनेगा। अतः इन व्रतों के विधान द्वारा जैन संस्कृति ने मानव के ब्यक्तिक और सामाजिक जीवन के शोधन का प्रयत्न किया है, जो आध्यात्मिक विकास के लिए आधार है।

### नारी की प्रतिष्ठा

यह सन्तुलन की प्रवृत्ति जैन संस्कृति में केवल साधु और गृहस्थ जीवन में ही नहीं रही। मानवीय सम्बन्धों में भी व्याप्त है। मानव समाज की सृष्टि नर-नारी के समान सहोपयोग से ही संभव है, चाहे वह जीवन में प्रवृत्ति का मार्ग हो या निवृत्ति का। नारी को अपना पूर्ण विकास करने की स्वतन्त्रता जैन संस्कृति में प्रारम्भ से रही है। मुनि-प्रार्थिका एवं श्रावक-श्राविका का विभाजन इस बात का प्रमाण है।

जैन साहित्य में नारी का जो चित्रण हुआ है, उसमें हमेशा उसकी प्रतिष्ठा और स्वतन्त्र्य को सुरक्षित रखने का प्रयत्न हुआ है। यदि कहीं नारी के विषय में कुछ उपेक्षा व घृणा की भावना व्यक्त हुई है तो वह दो प्रतिक्रियाओं का परिणाम है। व्यक्ति का परम कल्याण साधु जीवन के माध्यम से ही सम्भव है। अतः उसके लिए नारी का परित्याग अनिवार्य-सा हो गया हो। इसलिए स्वाभाविक है, त्याज्य वस्तुओं में उसे शामिल कर उसे तुच्छ कह दिया गया। दूसरी बात, सम्पूर्ण जैन साहित्य ब्राह्मण और बौद्ध विद्वानों के सम्पर्क में रहते हुए लिखा गया है अतः उनके प्रभाव से भी नारियों के चित्रण में खलन सम्भव है। वैसे जैन संस्कृति की भावना ने नारियों की हमेशा कद्र की है।

### पर्व और त्यौहार

पर्व और त्यौहार समाज के अन्तर्मानस की सामूहिक अभिव्यक्ति है। व्यष्टि और समष्टि के जीवन क्रम में जिस विश्वास, प्रेरणा एवं उत्साह की आवश्यकता पड़ती है, उसकी पूर्ति पर्वों से होती है। पर्व व त्यौहार किसी न किसी धार्मिक एवं सामाजिक दायित्व के प्रति व्यक्ति को जगाने का कार्य करते हैं। जैन संस्कृति के भी अपने कुछ पर्व हैं। जैन पर्व मानव से खेल-कूद, आमोद-प्रमोद, भोग-उपभोग अथवा हर्ष व विषाद की मांग नहीं करते अपितु वे तो मनुष्य की तप, त्याग, स्वाध्याय, अहिंसा, सत्य प्रेम तथा विश्व-मैत्री की भावना को प्रोत्साहित करते हैं।

जैन पर्व धार्मिक एवं सामाजिक दोनों तरह के हैं। सभी का परिचय एवं विवरण सम्भव नहीं है। उदाहरण स्वरूप संवत्सरी या क्षमावाणी पर्व की महत्ता समझी जा सकती है।

संवत्सरी, पर्वाधिराज पर्युषण पर्व के समाप्त होने के बाद मनायी जाती है। पर्युषण के दिनों में तप, वैराग्य और साधना का ही वातावरण रहता है। वर्ष भर



में धर्म-ध्यान के प्रमाद का इन दिनों परिमार्जन किया जाता है। अतः संवत्सरी पर्व आध्यात्मिक साधना-क्रम में वर्ष का अन्तिम और प्रथम दिन का बोधक है। वैसे तो जैन गृहस्थ प्रतिदिन सामायिक क्रिया के समय (प्रतिक्रमण, आत्मशोधन एवं सब जीवों को क्षमा प्रदान करता है। किन्तु यदि प्रमादवश वह यह कार्य नियमित रूप से नहीं कर पाया हो तो उसके लिए संवत्सरी का दिन आखिरी दिन होता है आत्म-शोधन और क्षमाप्रदान के लिए। उसके बाद उसे अपनी विगत भूलों का परिमार्जन करने के लिए विशेष संयम और तप की आवश्यकता होती है। क्योंकि कषाय जितनी पुगानी होगी उतना ही तीव्र उसका बंधन होगा। इसलिए संवत्सरी का विशेष महत्व है। वह पर्व है।

संवत्सरी के दिन प्रत्येक जैन प्राणी मात्र को क्षमा प्रदान करता है। अपनी भूलों के लिए क्षमा याचना करता है। प्रेम-मिलन, विश्व-मैत्री, विश्व-वात्सल्य एवं आत्मशोधन का ऐसा महान् पर्व जैन संस्कृति की एक अनोखी विशेषता है।

### लोक-भावना की कद्र

जैन संस्कृति का प्रारम्भ ही लौकिक सभ्यता एवं संस्कृति से हुआ है। एक ऐसी अवस्था से, जब विशेष कुछ था ही नहीं। सब कुछ लौकिक था। बाद में भारत भूमि में जब शिष्ट संस्कृति का प्रादुर्भाव हुआ तब भी जैन धर्म ने अपना सम्बन्ध लोक से ही बनाये रखा। उसके लिए कुछ उपेक्षित नहीं था। उसकी यही उदार और लौकिक दृष्टि ही शिष्ट संस्कृति के साथ विरोध का कारण बन गई। दोनों में संघर्ष चलता रहा।

जैन धर्म अपने विकास क्रम में लोकभावना को नहीं त्याग सका। धार्मिक लोक मन्यताओं को उसमें कभी उपेक्षा नहीं की गई। किन्तु उसका सम्मान करते हुए उन्हें विधिवत् अपनी परम्परा में यथा-स्थान सम्मिलित कर लिया गया है। राम, लक्ष्मण एवं कृष्ण व बलदेव आदि वैदिक धर्म के प्रधान देवताओं को जैन धर्म ने जहाँ आत्मीयता से अपने पुराणों में आदर और स्थान दिया है, वहाँ रावण व जरा-संध जैसे अनार्य राजाओं को भी उच्चता व सम्मान का स्थान देकर लोक जातियों की भावनाओं को ठेस नहीं पहुँचने दी। हनुमान, सुग्रीव आदि को बन्दर के स्थान पर विद्याधर मान कर चलना जैन संस्कृति को उदारता को ही प्रदर्शित करता है। ऐसा जैन पुराणकारों ने इसलिए किया कि लोक में औचित्य की हानि न हो, और साथ ही अनार्य, अनार्य किमी भी वर्ग की जनता को ठेस न पहुँचकर उन की भावनाओं की भली प्रकार रक्षा हो।

जैन संस्कृति के देश के किसी एक भाग का व्यामोह नहीं रहा। उसके तीर्थ-कर यदि उत्तर भारत में जन्मे तो दिग्गज विद्वानों की परम्परा से दक्षिण भारत सम्पन्न है। चाहे धर्म प्रचार के लिए हो या आत्मरक्षा के लिए जैनी कभी देश के

बाहर नहीं भागे। यही कारण है कि अनेक मुनियों व आचार्यों आदि महापुरुषों के जन्म, तपश्चरण, निर्वाण आदि के निमित्त से उन्होंने देश की पद पद भूमि को अपनी श्रद्धा व भक्ति का विषय बना डाला है। जैन संस्कृति की राष्ट्रीयता लौकिक-भाव से प्रोत-प्रोत है।

जैन धर्म की लोक भावना भूमिगत ही नहीं रही उन्होंने लोक भाषाओं का जो उद्धार किया है, वह किसी से छिपा नहीं है। वैदिक साहित्य ने केवल संस्कृत भाषा को आगे बढ़ाया। बौद्ध साहित्य ने पालि से ऐसा मोह किया कि भारत में तो ठीक, लंका, स्थाम, बर्मा आदि में भी उसने वहाँ की अन्य लौकिक भाषाओं को ग्रहण नहीं किया। किन्तु जैन-साहित्य ने अपनी उदारता भाषाओं में भी प्रकट की है।

भगवान् महावीर ने लोक उपकार की भावना से उस समय की वाणी अर्धमागधी का उपयोग किया। किन्तु बाद के जैनचार्यों ने जब-जब धर्म प्रचारार्थ जहाँ-जहाँ गये तब उन्होंने उन्हीं प्रदेशों में प्रचलित लोकभाषाओं को अपनी साहित्य रचना का माध्यम बनाया। शौरसेनी, महाराष्ट्री, अपभ्रंश आदि लोकभाषाओं का पूरा-पूरा प्रतिनिधित्व जैन साहित्य में पाया जाता है। हिन्दी, गुजराती, राजस्थानी आदि आधुनिक भाषाओं का प्राचीनतम साहित्य जैनियों का ही मिलता है। दक्षिण की तमिल व कन्नड़ भाषाओं को साहित्य में लाने का श्रेय जैनियों को है। इस प्रकार सम्पूर्ण जैन संस्कृति लोक चेतना से प्रोत-प्रोत है।

### साहित्य एवं कला को विशिष्टता

जैन साहित्य एवं कला की भी अपनी कुछ निजी विशेषताएँ हैं। साहित्य की अनेक विधाओं में जैन साहित्य उपलब्ध है। विभिन्न विषयों का उसमें वर्णन है। युगानुसार अनेक भाषाओं में वह लिखा गया है। प्रमुख रूप से जैन साहित्य की दो विशेषताएँ हमारे सामने अधिक उभरती हैं। प्रथम, उसके विशाल एवं विविध कथा-साहित्य का प्रस्तुतिकरण और दूसरे, उसकी सांस्कृतिक समृद्धता।

जैन कथा-साहित्य आगमों से लेकर बराबर 15 वीं शताब्दी तक उपलब्ध होता है। अन्य भारतीय कथा-साहित्य से यह किसी मायने में कम नहीं है। जैन कथा-साहित्य विशिष्ट इस बात में है कि कथाएँ चाहे प्रारम्भ जिस किसी रूप में हों, वर्ण विषय की भले भिन्नता हो, किन्तु उसकी परिणति प्रायः एक-सी होती है। जैन कथाकारों का मुख्य उद्देश्य जैन धर्म व संस्कृति को जन-जन के हृदय में उतारा था, मानव को संसार की विभिन्नता के दर्शन कराकर उन्नति का मार्ग प्रदर्शित करना था। अतः उन्होंने लोक में प्रचलित अनेक कथाओं को सहर्ष ग्रहण कर उन्हें जैन सिद्धान्तों में रंगते हुए जन-सामान्य के समक्ष उपस्थित कर दिया। पाप-पुण्य, जन्म-मरण, स्वर्ग-नरक आदि का यथार्थ ज्ञान पूर्वजन्मों की कथाओं द्वारा सरलता से

प्रचारित हो गया। अतः इन कथाओं द्वारा मनोरंजन तो होता ही है, मनुष्य सांसारिक बन्धनों से विमुक्त हो मुक्ति प्राप्त करने की प्रेरणा भी प्राप्त करता है। इन कथाओं में लोक-जीवन तो सचमुच साकार हो उठा है।

जैन साहित्य सांस्कृतिक दृष्टि से पर्याप्त समृद्ध है। जैनाचार्य देश के एक कोने से दूसरे कोने तक निरन्तर भ्रमण करते रहते थे। अतः जब वे साहित्य सृजन करते थे तो उनकी लेखनी में सारे देश का प्रतिबिम्ब उतर आता था। छोटी से छोटी बात बारीकी से चित्रण करना उनकी विशेषता थी। इस साहित्य में जो सांस्कृतिक सामग्री मिलती है वह इसलिए और महत्वपूर्ण एवं उपयोगी है, क्योंकि वह जैनाचार्यों द्वारा संकलित है अतः उसकी प्रामाणिकता में संदेह की गुंजाइश नहीं है। आधुनिक लोक-भाषाओं व उनकी साहित्यिक विधाओं के विकास को समझने के लिए तो जैन साहित्य का अध्ययन अपरिहार्य है।

साहित्य के अतिरिक्त जैन संस्कृति के प्रचार-प्रसार का दूसरा माध्यम कला है। कला जीवन की मौन अभिव्यक्ति है। डा. वामुदेवशरण अग्रवाल के शब्दों में—“जो कला के मूर्तिरूपों को अमूर्ति रूप की पृष्ठभूमि में जानता है वही सच्चा जानने वाला है। जैन संस्कृति के अन्तर्गत कला के जितने भी रूप उपलब्ध हैं सबकी अपनी दार्शनिक पृष्ठभूमि है। गुफाओं, स्तूपों, मंदिरों, मूर्तियों एवं चित्रों आदि ललितकला की निर्मितियों द्वारा जैन धर्म ने न केवल लोक का आध्यात्मिक व नैतिक स्तर उठाने का प्रयत्न किया है। किन्तु समस्त देश के विभिन्न भागों को सौन्दर्य से सजाया है। इनके दर्शन से हृदय विशुद्ध और आनन्द विभोर हो जाता है।”

जैन मूर्तिकला की अपनी विशिष्टता है। भारत की प्राचीनतम मूर्तियाँ जो आज उपलब्ध हैं, जैन संस्कृति से ही अधिक घनिष्ठ हैं। दूसरी बात, जैन मूर्तियों की ध्यानस्थ मुद्रा इतनी प्रभावशाली व विशुद्ध होती है कि दर्शक उसके समक्ष पहुँच कर आत्मलीन हो जाता है। एकाएक चिन्तन उभरता है—मैं क्या हूँ, मुझे क्या होना है? समस्त सांसारिक मोह विसर्जित हो जाता है। आराध्य के गुणों व ज्ञान की प्राप्ति ही अभीष्ट बन जाती है। इस तरह के भाव अन्य किसी मूर्ति को देखने से नहीं उभरते क्योंकि उनमें सांसारिकता मूर्तिपने में भी नहीं छूट पाती।

जैन चित्रकला आध्यात्मिकता के प्रचार-प्रसार के लिए जितने महत्व की है, उतनी ही प्राचीन भारतीय चित्रकला के इतिहास को जानने के लिए। अजन्ता की गुप्तकालीन बौद्ध-गुफाओं में चित्रकला का जो विकसित रूप दिखायी पड़ता है उससे ही स्पष्ट है कि इसके पूर्व इसकी कोई आधुनिक चित्रकला अवश्य रही होगी। नायाधम्म-कथाओं जैसे प्राचीनतम जैन साहित्य में चित्रकला का जो स्वरूप उल्लिखित है, वह प्राचीन भारतीय चित्रकला की और ही संकेत करता है। अतः जिस प्रकार आधुनिक भाषाओं के अध्ययन के लिए प्राकृत एवं अपभ्रंश का अध्ययन करना आवश्यक है,

वैसे ही भारतीय चित्रकला का क्रमिक इतिहास जानने के लिए जैन चित्रकला की उपेक्षा नहीं की जा सकती ।

उपर्युक्त विवेचन में जैन संस्कृति के प्रत्येक पक्ष को स्पर्श मात्र करने का प्रयास है । जो तथ्य सामने आये वे जैन संस्कृति के स्वरूप उदघाटन में सहायक हैं । जैन संस्कृति की इन विविध और विपुल उपलब्धियों को जाने-समझे बिना भारतीय संस्कृति के तह तक नहीं पहुँचा जा सकता । यह अनिवार्यता दुहरी आवश्यकता को जन्म देती है । एक और यदि विद्वानों, ग्रन्थेषकों एवं जन-सामान्य में जैन संस्कृति के प्रति अनुराग पैदा हो, तो दूसरी और यह भी आवश्यक है कि उनके समक्ष उसका विस्तृत एवं यथार्थ विवरण प्रस्तुत करने वाली सामग्री भी उपलब्ध हो ।



## महावीर के चिन्तन-कण

मगवान् महावीर का जीवन-दर्शन जैन संस्कृति के विकास के साथ जुड़ा हुआ है। अतः महावीर के व्यक्तित्व को समझने के लिए धर्म एवं दर्शन की सूक्ष्म व्याख्या जितनी आवश्यक है, उतना ही इतिहास और साहित्य का सूक्ष्म तुलनात्मक परिशीलन करना। जैन इतिहास की परतें उघाड़ने से अनेक तथ्य हाथ लगे हैं, जिन्होंने जैन धर्म एवं उसके प्रवर्तकों के स्वरूप को पर्याप्त स्पष्ट किया है। तीर्थङ्कर महावीर का युग एक विशेष प्रकार की परिस्थिति से गुजर रहा था। ऋषभदेव के समय के लोग सरल थे तथा बीच के तीर्थङ्करों ने सरल और समझदार (ऋजु-प्राज्ञ) लोगों का सामना किया, जबकि महावीर के युग के लोग समय के प्रभाव से तर्कप्रिय और चतुर हो गये थे। एकान्तवादी भी। अतः महावीर को धर्म को अधिक व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत करना पड़ा। यद्यपि महावीर द्वारा विवेचित धर्म में ऋषभदेव की अकिंचन मुनिवृत्ति, नमिनाथ की अनासक्ति, नेमिनाथ की कर्णुा और पार्श्वनाथ की अहिंसामय साधना सम्मिलित थी फिर भी बहुत कुछ नया था—व्यक्तिगत रूप से अनुभूत तत्त्वज्ञान का प्रस्तुतिकरण एवं संघ-व्यवस्था आदि। महावीर पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को सामाजिक और धार्मिक धरातल पर प्रतिष्ठापित किया। महावीर के व्यक्तित्व के विभिन्न गुण हैं, जो अनुकरणीय हैं।

महावीर तत्त्वज्ञान के सफल व्याख्याता थे। उन्होंने जगत् के पदार्थों से साक्षात्कार कर उन्हें मलीभाति समझा था। संसार के पदार्थों (जीव-अजीव) का अध्ययन उन्होंने किसी प्रयोगशाला में नहीं किया था, अपितु अपनी आत्मा के स्पन्दन के विस्तार और ज्ञान के विशदीकरण के द्वारा वे समस्त पदार्थों के स्वरूप आदि को समझ सके। महावीर जब जगत् को अनादि और अनन्त कहते हैं तो उसका अर्थ है कि संसार न कोई पैदा कर सकता है और न ही इसका कहीं अन्त होगा। परिवर्तन चाहे जो होते रहें। उनकी अनन्तता (संख्या का विसर्जन) का यह गणित अद्भुत है।

एक कुशल मनोवैज्ञानिक की तरह महावीर ने प्राणियों के मानसिक-स्पन्दन

और उसके बाह्य प्रभाव की विस्तृत मीमांसा की है। जीव-अजीव के बन्ध और मुक्ति का विश्लेषण महावीर ने बड़ी मृक्षमता से किया है। इसी से कर्म-सिद्धान्त प्रतिफलित हुआ है। महावीर का कथन है कि जीव में चैतन्य के साथ अचेतन अणु है, वही कर्मों को खींचता है। अतः हमेशा पूर्ण सजग सचेतन रहो तथा मूर्छा और अचेतनता को तोड़ो। महावीर द्वारा प्राणियों की यह मानसिक चिन्तित्ता है। चेतनता में जीन ही धर्म है। धर्म के अनुष्ठान द्वारा ही आत्मा का शुद्धीकरण होता है। यथा—

**एगा धम्मपडिमा, ज से आया पज्जवजाए।—स्थानांग १।१।४०**

महावीर सजग पुरुषार्थी थे। अपनी आत्मा के प्रति इतने जाग्रत कि उन्हें अपनी मुक्ति के लिए किसी के प्रति समर्पण करने की आवश्यकता नहीं पड़ी। उन्होंने इस द्वन्द्व को ही मिटा दिया कि कोई एक समर्पण करने वाली आत्मा है और दूसरी अनुकम्पा करने वाली। आत्मा के दो स्वभाव नहीं हो सकते। अतः उन्होंने सजग और पुरुषार्थी आत्मा को ही परमात्मा स्वीकार किया। ईश्वरत्व को पहिचानने वाला शायद ही महावीर के सदृश कोई दूसरा हुआ हो। स्वयं जागना कोई महावीर से सीखे। उन्होंने नियमों को स्वीकार कर नियन्ता को तिरोहित कर दिया।

विश्रुतप्रजा के धनी थे भगवान् महावीर। वे ज्ञान की सभी अवस्थाओं से स्वयं मुजरे हैं। वे नहीं चाहते थे कि कोई आत्मा किसी अज्ञान को पकड़कर ही अपने को जानी मानती रहे अतः उन्होंने ज्ञान के प्रत्येक अणु की सीमा एवं उसके विस्तार का विवेचन किया। मतिज्ञान से लेकर केवलज्ञान तक को स्पष्ट किया। ज्ञान की इतनी गहराई में उतरने के कारण ही महावीर श्रोताओं के अन्तस् तक पहुँचकर उनके स्तर के अनुरूप ही देशना करते थे। वे पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने केवल अपने बोलने की चिन्ता नहीं की, अपितु सुनने वालों को भी अपने स्तर तक लाने का मार्ग उन्होंने बतलाया। जानी का पुरुषार्थ यही है कि स्वयं सजग रहकर औरों को अप्रमादी बनाये। महावीर ने जानी का प्रमाद न करने के लिए बार-बार कहा है। यथा—अलं कुसलस्स पमाएणं, णाणी नो पमायए कयावि (आचा० १।२।४) आदि। इसी बात को जैन आचार्यों ने आगे बढ़ाया है। कुन्दकुन्द कहते हैं कि बुद्धि का दुष्प्रयोग मत करो (पत्रास्तिकाय, १४०)। कितनी ऊँची और आधुनिक संदर्भ की बात है।

सत्य के तलस्पर्शी शोधक भगवान् महावीर ने पूर्ण ज्ञान के अधिष्ठाता होकर कहा कि लोग ज्ञान की कितनी छोटी-सी किरण को पकड़े बैठे हैं, जबकि सत्य की जानकारी सूर्य सदृश प्रकाश वाले ज्ञान से हो पाती है। महावीर के युग में चिन्तन की धारा अनेक टुकड़ों में बंट गयी थी। वैदिक-परम्परा के अनेक विचारक थे तथा श्रमण-परम्परा में ६-७ विचारक अपने को २४वाँ तीर्थङ्कर सिद्ध करने में लगे हुए थे। महावीर इन सब से अलग थे। उन्हें आश्चर्य था कि सत्य के इतने दावेदार

कैसे पैदा हो गये, जबकि वे पदार्थ के अधिकांश अंशों को नहीं जानते। पदार्थ के अनन्त गुण, अनन्त पर्यायें हैं। फिर कैसे हम किसी एक पक्ष के आग्रही बनकर दंभी बन जायें जानी होने के? अतः उन्होंने अनेकान्तवाद का प्रतिपादन स्याद्वाद के माध्यम से किया।

अनेकान्तवाद या स्याद्वाद की जितनी दर्शन व चिन्तन के क्षेत्र में प्रावश्यकता है, उससे कहीं अधिक व्यावहारिक दैनिक जीवन में। महावीर द्वारा प्रणीत अनेकान्तवाद की यही निष्पत्ति है कि हम अपने-आपको इतना तैयार करें कि दूसरों को सुन सकें कहने की क्षमता से बहुत बड़ी है—दूसरे को सुन पाने की क्षमता। इससे व्यक्ति मृत्यु के उन अंशों को भी जान लेता है जहाँ उसकी दृष्टि नहीं पहुँची थी। महावीर का यह समन्वय का चिन्तन सभी वालों और परिस्थितियों में अनुकरणीय है। वास्तव में महावीर बड़े व्यवस्थित चिन्तक थे। आत्मजागरण (सम्यग्दर्शन) के बाद जगत्-दर्शन (सम्यग्ज्ञान) हो जाने पर उन्होंने इससे प्रगट होने वाले आचरण (सम्यक्चारित्र) की बात कही है। किसी भी व्यक्ति का आचरण समाज से पृथक् नहीं होता। अतः महावीर ने जिस पद्धति का निर्माण किया है, उससे प्रगट हुआ आचरण कभी किसी को हानिकारक हो नहीं सकता। इसीलिए उन्होंने जानी साधक के आचरण को फूल की सुवास की भांति कहा है।

महावीर के जीवन-दर्शन की निष्पत्ति अहिंसा है। अहिंसा का उपदेश भारतीय संस्कृति में नया नहीं है। महावीर के पूर्व के तीर्थंकरों ने भी करुणा, वात्सल्य आदि गुणों के विकास द्वारा जीवों के प्राणघात रोकने की बात कही थी। महात्मा बुद्ध ने भी अहिंसा की सूक्ष्म व्याख्या की थी। किन्तु महावीर ने अहिंसा को जितनी गहराई से देखा और अनुभव किया है, वंसा उदाहरण दूसरा नहीं है।

प्राणीमात्र पर अपना अधिकार रखना, उसे शासित करना, उत्तेजित कर देना तथा उसकी भावना को ठेस पहुँचना आदि क्रियाएँ महावीर की दृष्टि से हिंसा थीं, अतः उन्होंने इन सब वृत्तियों के त्याग को ही अहिंसा कहा है। यथा—

‘सव्वेपाणा.....ण हंतव्वा, ण अज्जावेयव्वा, ण परिघेतव्वा, ण परितावेव्वा ण उद्वेयव्वा ।’ —आचारांग, १.४.१

यह सब तभी होगा जब मानव ‘आत्मवत्सर्वभूतेषु’ के अद्घोष को पहचानेगा। महावीर ने अहिंसा की सबसे छोटी परिभाषा दी है—समभाव रखना। आत्मज्ञान अहिंसा है तथा आत्म-अज्ञान हिंसा। इस सूत्र का विस्तार ही जैनागमों में हुआ है। अहिंसा के अतिरिक्त अन्य व्रत व सिद्धान्त उसकी सुरक्षा के लिये हैं। व्यक्ति को निर्भय और सविभागी बनाने के लिए। अपरिग्रह का विवेचन व्यक्ति और समाज में सामन्जस्य स्थापित करने के लिए है। महावीर ने अन्य तप आदि साधनाओं का निरूपण भी किया है, जो व्यक्ति के आध्यात्मिक उत्कर्ष के साथ-साथ उससे प्रगट होने वाले आचरण को भी विशुद्ध करते हैं।

भगवान् महावीर इतिहास का एक ऐसा व्यक्तित्व है, जिससे दार्शनिक, धार्मिक, सामाजिक एवं राजनैतिक क्षेत्र निरन्तर प्रभावित होते रहे हैं। न केवल भाषा एवं साहित्य के क्षेत्र में महावीर का व्यापक प्रभाव है, अपितु भारतीय शिल्प में भी महावीर के जीवन-दर्शन की अनेक छवियां अंकित हैं। महावीर ने भगवान् पार्श्वनाथ के चिन्तन को तो नया स्वर दिया ही, अपनी मौलिक उद्भावनाएं भी स्थापित की हैं। उन्होंने जीवन के ममग्र विकास के लिए समाज को एक नयी आचार-संहिता दी। वर्ण और जाति की आधारभूमि पर टिकी परम्परागत समाज-संरचना को तोड़ा। व्यक्ति के स्वत्व की प्रतिष्ठा की और इकाई के महत्त्व को समझाया। महावीर पहले व्यक्ति थे जिन्होंने कहा कि आत्मा के विकास में किसी के सहारे की आवश्यकता नहीं है—

एगो चरेज्ज घम्म । — प्रश्नव्याकरण २:३

आत्मनिर्भरता का यह चिन्तन महावीर द्वारा धार्मिक क्षेत्र से समाज तक व्याप्त हुआ। महावीर ने कहा—समाज में परिवर्तन लाने के लिए व्यक्ति को बदलना होगा। सामाजिक जीवन में विषमता तब तक रहैगी जब तक व्यक्ति पग-पग पर दूसरे के सहारे की अपेक्षा करेगा। अतः महावीर ने कहा व्यक्ति स्वयं मर्यादित हो। उसकी मर्यादा के लिए महावीर ने पांच व्रतों की व्याख्या दी। अहिंसा के पालन द्वारा बहू-बातसत्य एवं समभाव का प्रसार करे। सत्य द्वारा वह वाणी के प्रयोग में स्वयं मर्यादित हो तथा समस्या की सच्चाई तक पहुँचकर समाधान खोजे। अचौर्य का पालन उसे भय से मुक्ति दिलाता है तथा लोभ-संवरण सिखाता है। ब्रह्मचर्य-व्रत के पालन द्वारा वह स्त्री के स्वातन्त्र्य की रक्षा करता है। स्वयं वासनाओं से मुक्त होता है। तथा अपरिग्रह व्रत के पालन द्वारा व्यक्ति संग्रह की वृत्ति से बचता है। स्वयं को असुरक्षा से निकालकर निर्भय बनाता है—

बहपि लद्धं न निहे,

परिग्गहाओ अप्पाणं अवसक्किज्जा ।—आचा. १।२।५

सामाजिक क्षेत्र में भगवान् महावीर का महत्त्वपूर्ण योगदान है— व्यक्ति को ऊँच-नीच के दायरे से बाहर निकालना। उन्होंने कभी भी जन्म को महत्त्व नहीं दिया। व्यक्ति के गुणों को सराहा, चाहे वह किसी भी जाति, वर्ण का क्यों न हो। यही कारण है कि उन्होंने अपने जीवन का प्रारम्भ प्रतिष्ठान को ठुकराकर भोपड़ियों से प्रारम्भ किया। लोगों को अनासक्त, समभावी और संविभागी बनाने के पूर्व वे स्वयं सर्वहारा हो गये। अपनी बात उन्होंने उस भाषा में कहना प्रारम्भ की जो सामान्य-जन की भाषा थी। व्यक्ति से व्यक्ति को जोड़ने वाली। समाज के प्रति महावीर के इसी दृष्टिकोण ने तत्कालीन सामन्तीवातावरण को लोकतंत्र में बदल दिया। राजनीति की परिभाषाएं एवं शासन-व्यवस्था अहिंसा प्रधान विचारधारा से



अपने आप जुड़ गईं। क्योंकि सामान्य जन की उपेक्षा करना सरल नहीं है। निर्धन व्यक्ति उतना ही स्वतन्त्र सत्ता वाला है जितना धनिक। साधु भी इसका अतिक्रमण नहीं कर सकता था—

नीयं कुलमइवकम्म ऊसहं नाभिधारए । — दश ० ५।२।२५

भगवान् महावीर के चिन्तन ने भारतीय मनीषा को बहुत प्रभावित किया है। भारत की प्राचीन भाषाओं से लेकर आधुनिक भाषाओं तक में महावीर की गौरव-गाथा गुम्फित है। उनके चिन्तन का विकास प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश एवं आधुनिक भाषाओं के साहित्य में विभिन्न कथानकों, दृष्टान्तों एवं रूपकों द्वारा प्रस्तुत किया गया है। सम्भवतः महावीर द्वारा प्रणीत धर्म की व्याख्या में सर्वाधिक अभिप्रायों (motifs) और प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। संस्कृत, प्राकृत में प्रतीक ग्रन्थ ही स्वतन्त्र रूप से जैनाचार्यों द्वारा लिखे गये हैं। ज्ञान के प्रति जैन समाज में इतनी उत्कंठा महावीर के उपदेशों द्वारा ही हुई है, जिसमें उन्होंने कहा है कि ज्ञान प्राप्त करके ही व्यक्ति विनम्र होता है और ज्ञान के अभाव में सयम नहीं होता (उत्त० २८।३०)। ज्ञान ही सच्चा प्रकाश है —

णारण्ज्जोवो जोवो । — भगवती आराधना गा० ७६८

ज्ञान की इस महिमा के कारण ही भगवान् महावीर की परम्परा में विज्ञान के क्षेत्र में भी जैनाचार्य निष्णात होते रहे हैं। शिक्षा के प्रसंग आने पर जैनागमों में विभिन्न कलाओं के वर्णन उपलब्ध होते हैं। जो विविध शिल्प एवं विद्यायें दैनिक जीवन में प्रयुक्त होती थीं, उनके सन्दर्भ भी जैनागम में प्राप्त हैं। आयुर्वेद विज्ञान युद्धविज्ञान रसायन-शास्त्र, यंत्रशिल्प आदि के तो कुछ ऐसे सन्दर्भ भी जैनाचार्यों ने प्राकृत में दिये हैं, जो अन्य भाषाओं के साहित्य में उपलब्ध नहीं हैं। उत्तराध्ययन-टीका (४, पृ. ८३) एवं दशवैकालिक चर्णि (१, पृ. ४४) आदि के सन्दर्भों से ज्ञात होता है कि घातु के पानी से तांबे आदि को सिक्त करके सुवर्ण बनाया जाता था। कुबलयमालाकहा में इसे घातुवाद कहा गया है, जिसका विस्तृत वर्णन इस ग्रंथ में है।

कला एवं विज्ञान के अतिरिक्त जैनागमों में तत्कालीन सभ्यता के विविध उपकरणों का विवेचन हुआ है। प्राचीन भारत के वस्त्र, आभूषण एवं मनोरंजन के विविध साधनों की पर्याप्त जानकारी जैन साहित्य के अध्ययन से होती है। इस प्रकार न केवल भगवान् महावीर की पूर्व-परम्परा, उनका जीवन-दर्शन, सांस्कृतिक-बिरासत अपितु उनकी परम्परा में विकसित होने वाला साहित्य और शिल्प भी भारतीय संस्कृति के गौरव की गाथा कहता है। भारतीय चिन्तन और मनीषियों की आत्मानुभूतियों से हमारा साक्षात्कार करता है। □□□

चतुर्थ

## अनेकान्त : वैचारिक उदारता

महावीर विश्व इतिहास में एक ऐसा नाम है, जिसने ढाई हजार वर्ष पूर्व भारत में मानवता की ज्योति जलाई थी। जगत् के समस्त प्राणियों के हित के लिए उस महापुरुष ने अहिंसा, अपरिग्रह, अनेकान्तवाद, आदि कल्याणकारी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था। आज सारा विश्व भगवान् महावीर को उनके इन्हीं लोकोपकारी उपदेशों के लिए याद कर रहा है।

महावीर के युग में चिंतन की धारा अनेक टुकड़ों में बंट गयी थी। वैदिक परम्परा के अनेक विचारक तथा श्रमण-परम्परा के 6-7 दार्शनिकों का उस समय अस्तित्व था। ये सभी चिन्तक अपनी-अपनी दृष्टि से सत्य को पूर्ण रूप से जान लेने का दावा कर रहे थे। प्रत्येक के कथन में यह आग्रह था कि सत्य को मैं ही जानता हूँ, दूसरा नहीं।

महावीर यह सब देख-सुन कर आश्चर्य में थे कि सत्य के इतने दावेदार कैसे हो सकते हैं? सत्य का स्वरूप तो एक होना चाहिए। ऐसी स्थिति में महावीर ने अपनी साधना और अनुभव के आधार पर कहा कि सत्य उतना ही नहीं है, जिसे व्यक्ति देख या जान रहा है। यह वस्तु के एक धर्म का ज्ञान है, एक गुण का। पदार्थ में अनन्त धर्म, अनेक गुण तथा पयाये होती हैं। किन्तु व्यवहार में उसका कोई एक स्वरूप ही हमारे सामने आता है। उसे ही हम जान पाते हैं। शेष धर्म अकथित रह जाते हैं। अतः प्रत्येक वस्तु का कथन सापेक्ष रूप से हो सकता है। यही कथन-पद्धति स्याद्वाद है। जैनाचार्यों ने महावीर के इसी कथन का विस्तार किया है।

स्याद्वाद महावीर के जीवन में व्याप्त था। उनके बचपन में ही स्याद्वादी चिंतन प्रारम्भ हो गया था। कहा जाता है कि एक दिन वर्द्धमान के कुछ बालक साथी उन्हें खोजते हुए मां त्रिशला के पास पहुँचे। त्रिशला ने कह दिया 'वर्द्धमान भवन में ऊपर है।' बच्चे भवन के सबसे ऊपरी खण्ड पर पहुँच गये। वहाँ पिता सिद्धार्थ थे, वर्द्धमान नहीं। जब बच्चों ने पिता सिद्धार्थ से पूछा तो उन्होंने कह दिया—'वर्द्धमान नीचे है।' बच्चे नीचे की मंजिलों पर दौड़ पड़े। उन्हें बीच की

एक मंजिल में खिड़की पर खड़े हुए वर्द्धमान मिल गये। बच्चों ने महावीर से शिका-यत की कि आज आपकी मां एवं पिता दोनों ने झूठ बोला। एक ने कहा था वर्द्धमान ऊपर है, दूसरे ने कहा था—वर्द्धमान नीचे है, जबकि तुम यहाँ बीच के खण्ड में खड़े हो। न नीचे थे, न ऊपर।

वर्द्धमान ने अपने साथियों से कहा—‘तुम्हें भ्रम हुआ है। मां एवं पिताजी दोनों ने सत्य कहा था। तुम्हारे समझने का फर्क है। मां नीचे की मंजिल पर खड़ी थीं। अतः उनकी अपेक्षा मैं ऊपर था और पिताजी सबसे ऊपरी खण्ड पर थे इसलिए उनकी अपेक्षा मैं नीचे था। वस्तुओं की सभी स्थितियों के सम्बन्ध में इसी प्रकार सोचने से हम सत्य तक पहुँच सकते हैं। भ्रम में नहीं पड़ते।’ वर्द्धमान की यह व्याख्या सुन कर बालक हैरान रह गये। महावीर स्याद्वाद की बात कह गये।

स्याद्वाद और अनेकान्तवाद में घनिष्ठ सम्बन्ध है। भगवान् महावीर ने इन दोनों के स्वरूप एवं महत्त्व को स्पष्ट किया है। अनेकान्तावाद के मूल में है—सत्य की खोज। महावीर ने अपने अनुभव से जाना था कि जगत् में परमात्मा अथवा विश्व की बात तो अलग व्यक्ति अपने सीमित ज्ञान द्वारा घट को भी पूर्ण रूप से नहीं जान पाता। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि गुणों से युक्त वह घट छोटा-बड़ा, काला-सफेद, हल्का-भारी, उत्पत्ति-नाश आदि अनन्त धर्मों से युक्त है। पर जब कोई व्यक्ति उसका स्वरूप कहने लगता है तो एक बार में उसके किसी एक गुण को ही कह पाता है यही स्थिति संसार की प्रत्येक वस्तु की है।

हम प्रतिदिन सोने का आभूषण देखते हैं। लकड़ी की टेबिल देखते हैं। और कुछ दिनों बाद इनके बनते-बिगड़ते रूप भी देखते हैं। किन्तु सोना और लकड़ी वही बनी रहती है। आज के मशीनी युग में किसी घातु के कारखाने में हम खड़े हो जायें तो देखेंगे कि प्रारम्भ में पत्थर का एक टुकड़ा मशीन में प्रवेश करता है और अन्त में जस्ता, तांबा आदि के रूप में बाहर आता है। वस्तु के इसी स्वरूप के कारण महावीर ने कहा था प्रत्येक पदार्थ उत्पत्ति, विनाश और स्थिरता से युक्त है। द्रव्य के इस स्वरूप को ध्यान में रखकर उन्होंने जड़ और चेतन आदि छः द्रव्यों की व्याख्या की है। मति, श्रुति, केवलज्ञान आदि पाँच ज्ञानों के स्वरूप को समझाया है। केवलज्ञान द्वारा हम सत्य को पूर्णतः जान पाते हैं। अतः सामान्य ज्ञान के रहते हम वस्तु को पूर्णतः जानने का दावा नहीं कर सकते। जान कर भी उसे सभी दृष्टियों से अभिव्यक्त नहीं कर सकते। इसलिए सापेक्ष कथन की अनिवार्यता है। सत्य के खोज की यह पगडंडी है।

अनेकान्त-दर्शन महावीर की सत्य के प्रति निष्ठा का परिचायक है। उनके सम्पूर्ण और यथार्थ ज्ञान का द्योतक। महावीर की अहिंसा का प्रतिबिम्ब है—स्याद्वाद। उनके जीवन की साधना रही है कि सत्य का उद्घाटन भी सही हो तथा

उसके कथन में भी किसी का विरोध न हो। यह तभी सम्भव है जब हम किसी वस्तु का स्वरूप कहते समय उसके अन्य पक्ष को भी ध्यान में रखें तथा अपनी बात भी प्रामाणिकता से कहें। 'स्यात्' शब्द के प्रयोग द्वारा यह सम्भव है। यहां 'स्यात्' का अर्थ है—किसी अपेक्षा से यह वस्तु ऐसी है।

इसे एक उदाहरण से समझा जा सकता है। राजेश एक व्यक्ति है। वह अपने पिता की अपेक्षा पुत्र है तथा अपने पुत्र की अपेक्षा पिता है। वह पति है एवं जीजा भी। मामा है और भानजा भी। अब यदि कोई उसे केवल मामा ही माने और अन्य सम्बन्धों को गलत ठहराये तो यह राजेश नामक व्यक्ति का सही परिचय नहीं है, इसमें हठधर्मी है। अज्ञान है। महावीर इस प्रकार के आग्रह को वैचारिक हिंसा कहते हैं। अज्ञान से अहिंसा फलित नहीं होती। अतः उन्होंने कहा कि स्याद्वाद पद्धति से प्रथम वैचारिक उदारता उपलब्ध करो। केवल अपनी बात कहना ही पर्याप्त नहीं है, दूसरों को भी अपना दृष्टिकोण रखने का अवसर दो। सत्य के दर्शन तभी होंगे। तभी व्यवहार की अहिंसा सार्थक होगी।

सत्य को विभिन्न कोणों से जानना और कहना दर्शन के क्षेत्र में नयी बात नहीं है। किन्तु महावीर ने स्याद्वाद के कथन द्वारा सत्य को जीवन के धरातल पर उतारने का कार्य किया है। यही उनका वैशिष्ट्य है। हम सभी जानते हैं कि हर वस्तु से कम से कम दो पहलु होते हैं। कोई भी वस्तु न सर्वथा अच्छी होती है और न सर्वथा बुरी :—

**'दृष्टं किमपि लोकेस्मिन् न निर्दोषं न निर्गुणम् ।'**

नीम सामान्य व्यक्ति को कड़वी लगती है। वही रोगी के लिए औषधि भी है। अतः नीम के सम्बन्ध में कोई एक धारणा बना कर किसी दूसरे गुण का विराध करना बेमानी है। सामान्य नीम की जब यह स्थिति है तो संसार के अनन्त पदार्थों अनन्त धर्मों के स्वरूप को जान कर उनका आग्रहपूर्वक कथन करना सम्भव नहीं है। महावीर ने इसे गहराई से समझा था। अतः वे मनुष्य तक ही सीमित नहीं रहे। प्राणी मात्र के स्पन्दन की सापेक्षता को भी उन्होंने स्थान दिया। मनुष्य की भांति एक सामान्य प्राणी भी जीने का अधिकार रखता है। अपने साधनों द्वारा उसे भी अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता है। यह महावीर के स्याद्वाद की फलश्रुति है।

महावीर अनेकान्तवाद व स्याद्वाद से उन गलत धारणाओं को दूर कर देना चाहते थे, जो व्यक्ति के सर्वांगीण विकास में बाधक थीं। उनके युग में एकान्तिक दृष्टि से यह कहा जा रहा था कि जगत् शाश्वत् है, अथवा क्षणिक है। इससे वास्तविक जगत् का स्वरूप खंडित हो रहा था। मनुष्य का पुरुषार्थ कुण्ठित होने लगा था नियतिवाद के हाथों। अतः महावीर ने आत्मा, परमात्मा और जगत् इन तीनों के

स्वरूप का वह यथार्थ सामने रख दिया, जिससे व्यक्ति अपनी राह का स्वयं निर्णायक बन सके। अपूर्व थी महावीर की यह देन।

अनेकान्त व स्याद्वाद के सम्बन्ध में महावीर ने जो कहा वह उनके जीवन से भी प्रकट हुआ है। वे अपने जीवन में कभी किसी की बाधा नहीं बने। जगत् में रहते हुए किसी अन्य के स्वार्थ से न टकराना, कम लोगों के जीवन में सध पाता है। महावीर के अनुसार यह टकराहट अधूरे ज्ञान के अहंकार से होती है। प्रमाद व अविवेक से होती है। अतः अप्रमादी होकर विवेकपूर्वक आचरण करने से ही अनेकान्त जीवन में आ पाता है। अनेकान्त दृष्टि से ही सत्य का साक्षात्कार संभव है।

महावीर द्वारा प्रतिपादित स्याद्वाद में वस्तु के अनन्त धर्मात्मक होने के कारण उसे अव्यक्तव्य कहा गया है। मुख्य की अपेक्षा से गौण को अकथनीय कहा गया है। वेदान्त दर्शन में सत्य को अनिर्वचनीय और बौद्ध दर्शन में उसे शून्य व विभज्यवाद कहा गया है। अन्य भारतीय दार्शनिकों के अतिरिक्त प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्सटीन व दार्शनिक वर्टनरसेल के सापेक्षवाद के सिद्धान्त भी महावीर के स्याद्वाद से मिलते-जुलते हैं। महावीर ने कहा था कि वस्तु के कण-कण को जानो तब उसके स्वरूप को कहो। ज्ञान की यह प्रक्रिया आज के विज्ञान में भी है। इसका अर्थ है कि स्याद्वाद का चिन्तन सशयवाद नहीं है। अपितु, इसके द्वारा मिथ्या मान्यताओं की अस्वीकृति और वस्तु के यथार्थ पक्षों की स्वीकृति होती है। विचार के क्षेत्र में इससे जो सहिष्णुता विकसित होती है वह दीनता व जी-हजूरी नहीं है, बल्कि मिथ्या अहंकार के विसर्जन की प्रक्रिया है।

दर्शन व चिन्तन के क्षेत्र में अनेकान्त व स्याद्वाद की जितनी आवश्यकता है, उतनी ही व्यावहारिक दैनिक जीवन में। वस्तुतः इस विचारधारा से अच्छे-बुरे की पहिचान जाशुत होती है। अनुभव बताता है कि एकान्त विग्रह है, फूट है, जबकि अनेकान्त मैत्री है, संधि है। इमे यों भी समझ सकते हैं कि जिस प्रकार सही मार्ग पर चलने के लिए कुछ अन्तर्राष्ट्रीय यातायात संकेत बने हुए हैं। पथिक उनके अनुसरण से ठीक-ठीक चल कर अपने गन्तव्य पर पहुँच जाते हैं। उसी प्रकार स्वस्थ-चिन्तन के मार्ग पर चलने के लिए स्याद्वाद द्वारा महावीर ने सप्तभंगी रूपी सात संकेतों की रचना की है। इनका अनुगमन करने पर किसी बौद्धिक दुर्घटना की आशंका नहीं रह जाती। अतः बौद्धिक शोषण का समाधान है—स्याद्वाद।

महावीर के स्याद्वाद से फलित होता है कि हम अपने क्षेत्र में दूसरों के लिए भी स्थान रखें। अतिथि के स्वागत के लिए हमारे दरवाजे हमेशा खुले हों। हम प्रायः बचपन से कागज पर हाशिया छोड़ कर लिखते आये हैं, ताकि अपने लिखे हुए पर कभी संशोधन की गुंजाइश बनी रहे। जो हमने अधूरा लिखा है, वह पूर्णता पा सके। महावीर का स्याद्वाद जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हमें हाशिया छोड़ने का संदेश

देता है। चाहे हम ज्ञान संग्रह करें अथवा धन व यश का, प्रत्येक के साथ सापेक्षता आवश्यक है। संविभाग की समझ जागृत होना ही महावीर के अनेकान्त को समझना है। यही हमारे चरित्र की कुंजी है। अनेकान्त हमारे चिन्तन को निर्दोष करता है। निर्मल चिन्तन से निर्दोष भाषा का व्यवहार होता है। सापेक्ष भाषा व्यवहार में अहिंसा प्रकट करती है। अहिंसक वृत्ति से अनावश्यक संग्रह और किसी का शोषण नहीं हो सकता। जीवन अपरिग्रही हो जाता है। इस तरह आत्म शोधन की प्रक्रिया का मूलमन्त्र है—महावीर का स्याद्वाद। जैनाचार्य कहते हैं कि संसार के उस एक मात्र गुरु अनेकान्तवाद को मेरा नमस्कार है, जिसके बिना इस लोक का कोई व्यवहार सम्भव नहीं है। यथा—

जेण विणा लोयस्सवि ववहारो सव्वहा न निव्वडइ ।  
तस्स भुवणेवक्कगुरुणो णमो अणेगंतवायस्स ॥



## जैन धर्म का आधार : समता

आगम ग्रन्थ प्राकृत साहित्य के आधार ग्रन्थ हैं। समता आगमों का प्रमुख विषय रहा है। तभी प्रथम अंग ग्रन्थ आचारांग सूत्र में कहा गया कि ज्ञानी पुरुषों के द्वारा समता में धर्म कहा गया है—समियाए धम्मे आरएहि पवेदिते। सूत्रकृतांग एवं अन्य प्राकृत आगमों में "समता" धर्म है, आचरण है, जीवन का प्राण है आदि अनेक रूपों में समता के विभिन्न आयामों को उद्घाटित किया गया।<sup>1</sup> परवर्ती प्राकृत साहित्य भी कई दृष्टियों से सामाजिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में समता का पोषक है। इस साहित्य की आधारशिला ही समता है, क्योंकि भाषागत, पात्रगत एवं चिन्तन के घरातल पर समत्वबोध के अनेक उदाहरण इस साहित्य में उपलब्ध हैं। यहाँ कुछ आयामों को दृष्टिगत किया जा सकता है।

### भाषागत समानता :

भारतीय साहित्य के इतिहास में प्रारम्भ से ही संस्कृत भाषा को अधिक महत्व मिलता रहा है। संस्कृत की प्रधानता के कारण जन-सामान्य की भाषाओं को प्रारम्भ में वह स्थान नहीं मिल पाया, जिसकी वे अधिकारिणी थी। अतः साहित्य-सृजन के क्षेत्र में भाषागत विषमता ने कई विषमताओं को जन्म दिया है। प्रबुद्ध और लोक-मानस के बीच एक अन्तराल बनता जा रहा था। प्राकृत साहित्य के मनीषियों ने प्राकृत भाषा को साहित्य और चिन्तन के घरातल पर संस्कृत के समान प्रतिष्ठा प्रदान की। इससे भाषागत समानता का सूत्रपात हुआ और संस्कृत तथा प्राकृत, समानान्तर रूप से भारतीय साहित्य और आध्यात्म की संवाहक बनीं। प्राकृत साहित्य का क्षेत्र विस्तृत है। पालि, अर्धमागधी, अपभ्रंश आदि विभिन्न विकास की दशाओं से गुजरते हुए प्राकृत साहित्य पुष्ट हुआ है। प्राकृत भाषा के साहित्य में देश की उन सभी जन-बोलियों का प्रतिनिधित्व हुआ है, जो अपने-अपने समय में प्रभावशाली थीं। अतः प्रदेशगत एवं जातिगत सीमाओं को तोड़कर प्राकृत साहित्य ने पूर्व से मागधी, उत्तर से शौरसेनी, पश्चिम से पंचाशी, दक्षिण

से महाराष्ट्री आदि प्राकृतों का सहर्ष स्वीकार विया है।<sup>2</sup> किसी भी साहित्य में भाषा की यह विविधता उसके समत्वबोध की ही द्योतक कही जायेगी।

### शब्दगत समता :

भाषागत ही नहीं, अपितु शब्दगत समानता को भी प्राकृत साहित्य में पर्याप्त स्थान मिला है। केवल विभिन्न प्राकृतों के शब्द ही प्राकृत साहित्य में प्रयुक्त नहीं हुए हैं, अपितु लोक में प्रचलित उन देशज शब्दों की भी प्राकृत साहित्य में भरमार है, जो आज एक शब्द-सम्पदा के रूप में विद्वानों का ध्यान आकर्षित करते हैं।<sup>3</sup> दक्षिण भारत की भाषाओं में कन्नड़, तमिल आदि के अनेक शब्द प्राकृत साहित्य में प्रयुक्त हुए हैं। संस्कृत के कई शब्दों का प्राकृतीकरण कर उन्हें अपनाया गया है। अतः प्राकृत साहित्य में शब्दों में यह विषमता स्वीकार नहीं गयी है कि कुछ विशिष्ट शब्द उच्च श्रेणी के हैं, कुछ निम्न श्रेणी के, कुछ ही शब्द परमार्थ का ज्ञान करा सकते हैं कुछ नहीं, इत्यादि।

### शिष्ट और लोक का समन्वय :

प्राकृत साहित्य कथावस्तु और पात्र-चित्रण की दृष्टि से भी समता का पोषक है। इस साहित्य की विषय-वस्तु में जितनी विविधता है, उतनी और कहीं उपलब्ध नहीं है। संस्कृत में वैदिक साहित्य की विषयवस्तु का एक निश्चित स्वरूप है। लौकिक संस्कृत साहित्य के ग्रन्थों में आभिजात्य वर्ग के प्रतिनिधित्व का ही प्राधान्य है। महाभारत इसका अपवाद है, जिसमें लोक और शिष्ट दोनों वर्गों के जीवन की भाँकियाँ हैं। किन्तु आगे चलकर संस्कृत में प्रायः ऐसी रचनाएँ नहीं लिखी गयीं। राजकीय जीवन और सुख-समृद्धि के वर्ग ही इस साहित्य को भरते रहे, कुछ अपवादों को छोड़कर। प्राकृत साहित्य का सम्पूर्ण इतिहास विषमता से समता की ओर प्रवाहित हुआ है। उसमें राजाओं की कथाएँ हैं तो लकड़हारों और छोटे-छोटे कर्म शिल्पियों की भी। बुद्धिमानों के ज्ञान की महिमा का प्रदर्शन है, तो भौले अज्ञानी पात्रों की सरल मंगिमाएँ भी हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय जाति के पात्र कथाओं के नायक हैं तो शूद्र और वैश्य जाति के साहसी युवकों की गौरवगाथा भी इस साहित्य में वर्णित है। ऐसा समन्वय प्राकृत के किसी भी ग्रन्थ में देखा जा सकता है। “कुवलयमाला कथा” और “समराइच्चकथा” इस प्रकार की प्रतिनिधि रचनाएँ हैं। नारी और पुरुष पात्रों का विकास भी किसी विषमता से आक्रान्त नहीं है। इस साहित्य में अनेक ऐसे उदाहरण उपलब्ध हैं जिनमें पुत्र और पुत्रियों के बीच कोई दीवार नहीं खड़ी की गयी है। बेटी और बहू को समानता का दर्जा प्राप्त रहा है।<sup>4</sup> अतः सामाजिक पक्ष के जितने भी दृश्य साहित्य में उपस्थित हुए हैं, उनमें निरन्तर यह आदर्श सामने रखा गया है कि समाज में समता का उत्कर्ष हो एवं विषमता की दीवारें तिरोहित हों।



### प्राणीमात्र की समता :

आध्यात्मिक क्षेत्र में समता के व्यापक विकास के लिए प्राकृत साहित्य का अपूर्व योगदान है। प्राणीमात्र को समता की दृष्टि से देखने के लिए समस्त आत्माओं के स्वरूप को एक माना गया है। देहगत विषमता कोई अर्थ नहीं रखती है यदि जीवगत समानता की दिशा में चिन्तन करने लग जायें। सब जीव समान हैं, इस महत्वपूर्ण तथ्य को स्पष्ट करने के लिए प्राकृत साहित्य में अनेक उदाहरण दिये गये हैं। परिणाम की दृष्टि से सब जीव समान हैं। ज्ञान की शक्ति सब जीवों में समान है, जिसे जीव अपने प्रयत्नों से विकसित करता है। शारीरिक विषमता पुद्गलों की बनावट के कारण है। जीव अयोद्गलिक है, अतः सब जीव समान हैं। देह और जीव में भेद-दर्शन की दृष्टि को विकसित कर इस साहित्य ने वैषम्य की समस्या को गहराई से समाधित किया है। “परमात्म-प्रकाश” में कहा गया है कि जो व्यक्ति देह-भेद के आधार पर जीवों में भेद करता है, वह दर्शन, ज्ञान, चरित्र को जीव का लक्षण नहीं मानता। यथा—

देहविभेदयं जो कुण्ड जीवाहं भेद विचिन्तु ।

सोण विलक्खण मुण्ड तह दंसण णारण चरितु ॥

इसी प्राणीमात्र की समता के कारण आचारांगसूत्र में पहले ही घोषणा कर दी गयी थी कि कोई प्राणी न हीन है और न श्रेष्ठ।<sup>5</sup> ऊँच-नीच की भावना तो हमारे अहंकार ने उत्पन्न की है, जो त्याज्य है।

### अभय से समत्व :

विषमता की जननी मूल रूप से भय है। अपने शरीर, परिवार, धन आदि सबकी रक्षा के लिए ही व्यक्ति औरों की अपेक्षा अपनी अधिक सुरक्षा का प्रबन्ध करता है और धीरे-धीरे विषमता की खाई बढ़ती जाती है।<sup>6</sup> इस तथ्य को ध्यान में रख कर ही “सूत्रकृतांग” में कहा गया कि समता उसी के होती है जो अपने को प्रत्येक भय से अलग रखता है—

सामाड्यमाहु तस्स जं जो अण्णण भए ण दंसए

अतः अभय से समता का सूत्र प्राकृत ग्रन्थों ने हमें दिया है। वस्तुतः जब तक हम अपने को भयमुक्त नहीं करेंगे तब तक दूसरों को समानता का दर्जा नहीं दे सकते। अतः आत्मा के स्वरूप को समझकर राग द्वेष से ऊपर उठना ही अभय में जीना है, समता की स्वीकृति है।

विषमता की जननी व्यक्ति का अहंकार भी है। पदार्थों की अज्ञानता से अहंकार का जन्म होता है। हम मान में प्रसन्न और अपमान में क्रोधित होने लगते हैं और हमारा संसार दो खेमों में बंट जाता है। प्रिय और अप्रिय की टोलियाँ बन

जाती हैं। प्राकृत के ग्रन्थ यहीं हमें सावधान करते हैं। “दशवंकालिक” का सूत्र है कि जो वन्दना न करे, उस पर कोप मत करो और वन्दना करने पर उत्कर्ष (धमण्ड) में मत आओ —

जे न वन्दे न से कुप्पे व न्विओ न समुक्कसे

ऐसे उदारवादी दृष्टिकोण से ही समता हो सकती है। आचार्य कुन्दकुन्द ने ऐसी समता को ही सच्ची प्रव्रज्या माना है।<sup>7</sup>

**अप्रतिबद्धता : समता :**

समता के विकास में एक बाधा यह बहुत आती है कि व्यक्ति स्वयं को दूसरों का प्रिय अथवा अप्रिय करने वाला समझने लगता है। जिसे वह ममत्व की दृष्टि से देखता है उसे सुरक्षा प्रदान करने का प्रयत्न करता है और जिसके प्रति उसे द्वेष हो हो गया है उसका वह अनिष्ट करना चाहता है। प्राकृत साहित्य में इस स्थिति से बहुत सतर्क रहने को कहा गया है। किसी भी स्थिति या व्यक्ति के प्रति प्रतिबद्धता समता का हनन करती है अतः “भगवती आराधना” में कहा गया है कि सब वस्तुओं से जो अप्रतिबद्ध है (ममत्वहीन), वही सब जगह समता को प्राप्त करता है —

सव्वत्थ अपडिबद्धो उर्वेदि सव्वत्थ समभावं । (—भ. प्रा. 1683.)

इस अप्रतिबद्धता की शिक्षा आचारांगसूत्र में इस प्रकार दी जा चुकी थी कि आत्मजागृत व्यक्ति न तो विरवित से दुखी होता है और न किसी आकर्षण से मोहित होता है। वह न तो खिन्न होता है और न प्रसन्न। क्योंकि समता में उसे सब बराबर है।<sup>8</sup>

**समता सर्वोपरि :**

समता की साधना को प्राकृत भाषा के मनीषियों ने ऊँचा स्थान प्रदान किया है। अभय की बात कह कर उन्होंने परिग्रह-संग्रह से मुक्ति का संकेत दिया है। भयातुर व्यक्ति ही अधिक परिग्रह करता है। अतः वस्तुओं के प्रति ममत्व के त्याग पर उन्होंने बल दिया है, किन्तु समता के लिए सरलता का जीवन जीना बहुत आवश्यक बतलाया गया है। बनावटपन से समता नहीं आयेगी, चाहे बड़े जीवन के किसी भी क्षेत्र में हो। यदि समता नहीं है, तो तपस्या करना, शास्त्रों का अध्ययन करना, मौन रखना आदि सब व्यर्थ है —

किं काहदि वणवासो कायक्कसेो विचित्त उववासो ।

अज्झयण मोणपहुदी समदा-रहियस्स समणस्स ॥ —(नियमसार. 124)

प्राकृत साहित्य में सामायिक की बहुत प्रतिष्ठा है। सामायिक का मुख्य लक्षण ही समता है। मन की स्थिरता की साधना समभाव से ही होती है। त्रण-कंचन, शत्रु-मित्र, आदि विषमताओं में आसक्ति रहित होकर उचित प्रवृत्ति करना ही सामायिक है। यही समभाव/सामायिक का तात्पर्य है। यथा—

समभावो सामाह्यं तण-कंचन सत्तु-मित्त विसउत्ति ।

णारभिसंगचित्तं उच्चिय पवित्तिप्पहाणं च ॥

प्राकृत साहित्य में समता के विभिन्न आयाम उजागर हुए हैं। संस्कृत में प्राकृत के एक “सम” शब्द के लिए तीन अभिव्यक्तियाँ मिली हैं। सम-अर्थात् समना करना, समता धारण करना, सम-श्रम, अर्थात् शान्त करना। मन में उठने वाले इष्ट-अनिष्ट भावों में भी शान्ति धारण करना और सम-श्रम, अर्थात् श्रम-पूर्वक; पुरुषार्थ-पूर्वक जीवन व्यतीत करना। इस प्रकार समता की कुँजी में समानता, शीतलता और श्रमशीलता के मार्ग उद्घाटित हुए हैं। इस पावन धरा पर प्राकृत साहित्य के अमृतवचन “समणों समसुहदुखो” के साथ-साथ देववाणी की पीयूषधारा “समदुःखसुखं धीरों सोऽ मृतत्वाय कल्पते” का भी गायन होता रहा है। यही समता वर्तमान में समानता और समविभाजन जैसे आदर्शों की जननी कही जा सकता है। प्राकृत के लौकिक साहित्य से भी समता-पोषक कई सूक्तिमणियाँ खोजी जा सकती हैं, जो जन-जन के सम्मान और विकास के मार्ग को प्रशस्त करेगी।

### सन्दर्भ

1. (अ) समयं सया चरे (सदा समता का आचरण करो)—सूत्र. 2.2.3  
(ब) समयाए समणोहोइ (समता से श्रमण होता है)—उत्तरा. सूत्र, 25. 32  
(स) चारिनं समभावो (समताभाव चारित्र्य है)—पंचास्तिकाय, गा. 107
2. “ प्राकृत तथा अन्य भारतीय भाषाएँ ” नामक लेखक का लेख, परिसंवाद (4) वाराणसी, 1988
3. देशी-शब्द कोश—मुनि दुलहराज (भूमिका)
4. “जैन साहित्य में अंकित नारी की स्थिति” नामक लेखक का लेख, संगोष्ठी—स्मारिका, वाराणसी, 1988
5. णो हीणो णो अतिरित्ते—आचा 1/75
6. विशेष के लिए द्रष्टव्य; समता—दर्शन और व्यवहार, आचार्य नानेश, बीकानेर. 1985, पृ. 5
7. सत्तुमिने य समा पसंसणिद्दा अलद्धि—लद्धि समा ।  
तण—कणए समभावा पवज्जा एरिसा भणिया ॥ —बोधपाहुड, गा. 46
8. णारति सहती वीरे, वीरे णो सहति रति ।  
जंम्हा अविमणो वीरे तम्हा वीरे ण रज्जति ॥ —आचारांग



## जैन आचार-संहिता

वर्तमान युग में विज्ञान की प्रगति ने मानव-जीवन की सुख-सुविधा और उसकी भौतिक समृद्धि के लिए बहुत बड़ा योगदान किया है। इससे यद्यपि मनुष्य की आर्थिक सम्पन्नता बढ़ी है, तथापि उसकी मानसिक एवं आध्यात्मिक शान्ति कम हुई है; नैतिक मूल्यों और आध्यात्मिक गुणों का दिनों-दिन ह्रास हुआ है। मनुष्य भौतिकता की दौड़ में स्वार्थी, लोभी और पराधीन हो गया है। मनुष्य के व्यक्तित्व के इस बौनेपन से समाज, राष्ट्र, और विश्व के क्षेत्र में भी अशान्ति व्याप्त हुई है। अतः स्वाभाविक रूप से अब भौतिक दृष्टि से समृद्ध मानव धर्म, आचार, एवं अध्यात्म के उन मूल्यों की और आकृष्ट हुआ है, जो उसे वास्तविक सुख-शान्ति दे सकते हैं। भारतीय दार्शनिक चिन्तन और ध्यान के प्रयोगों में मानव-कल्याण के सूत्र निहित हैं। जैनधर्म नैतिक मूल्यों और आध्यात्मिक अनुभवों की दृष्टि से अधिक समृद्ध है; अतः जैन आचार-संहिता के प्रमुख सिद्धान्त : अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह, अनेकान्त, त्रिरत्न, (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक् चरित्र) आत्म-साक्षात्कार आदि विश्व में शान्ति स्थापित करने के लिए एवं मानव-कल्याण के लिए आधारभूत समाधान प्रस्तुत करते हैं।

**जैन तत्त्वज्ञान :**

जैनधर्म भारत का प्राचीनतम धर्म है। प्रारम्भ में श्रमणधर्म, अर्हत् धर्म एवं निर्ग्रन्थ धर्म के नाम से जाना जाता था। जैनधर्म की परम्परा के महापुरुष समस्त प्राणियों में समान भाव रखते थे, समता की साधना करते थे; इसलिए वे श्रमण कहलाये। श्रमण वह है, जिसका मन शुद्ध है, जो पापवृत्ति वाला नहीं है, तथा जो मनुष्यों एवं अन्य सभी प्राणियों को अपने समान समझता हुआ उन पर अहिंसा का भाव रखता है। जैनधर्म के महापुरुषों को आध्यात्मिक गुणों से युक्त होने के कारण 'अर्हत्' कहा जाता है तथा धर्मरूपी तीर्थ के संस्थापक होने के कारण वे 'तीर्थंकर' कहलाते हैं। उनके बाहर-भीतर किसी प्रकार का कोई परिग्रह नहीं होता, दुष्प्रवृत्ति नहीं होती, इसलिए वे 'निर्ग्रन्थ' कहे जाते हैं। उन्होंने अपनी विषय-वासनाओं को जीत लिया है, इसलिए ये 'जिन' कहलाते हैं। ऐसे जिन द्वारा

प्रवर्तित धर्म को जैनधर्म कहा गया है। भारतीय चिन्तन-परम्परा में सर्वप्रथम अहिंसा मय लोकधर्म का उद्घोष भगवान् ऋषभदेव ने किया था। उसी समतामय धर्म का प्रचार-प्रसार भगवान् पार्श्वनाथ तथा भगवान् महावीर आदि तीर्थंकरों ने किया।<sup>1</sup> महावीर द्वारा प्रतिपादित जैनधर्म लगभग ढाई हजार वर्षों से भारत में सर्वत्र व्याप्त है। इस धर्म की तत्त्व, ज्ञान, और आचारगत मीमांसा से जैनधर्म की आचार-संहिता का घनिष्ठ सम्बन्ध है।<sup>2</sup>

जैनधर्म में संसार के स्वरूप के सम्बन्ध में वैज्ञानिक दृष्टि से चिन्तन किया गया है। लोक छह द्रव्यों से बना है। जीव, अजीव (पुद्गल), धर्म, अधर्म, आकाश, और काल ये छह द्रव्य ही परस्पर मिल कर लोक की रचना करते हैं।<sup>3</sup> लोक अमादि-अनन्त है, अतः इसे बनाने, अधवा मिटाने वाला कोई ईश्वर आदि नहीं है। द्रव्यों में परिवर्तन स्वतः होता है; अतः गुण की अपेक्षा से द्रव्य 'नित्य' है और पर्याय की अपेक्षा से वह 'अनित्य' है। जैन दार्शनिकों ने वस्तु को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक कहा है। इन छह द्रव्यों में से जीव द्रव्य चेतन है, और शेष पाँच द्रव्य अचेतन हैं; अतः मूलतः विश्व के निर्माण और संचालन में जीव और अजीव ये दो द्रव्य ही प्रमुख हैं।

जीव और अजीव इन दो प्रमुख तत्त्वों में परस्पर जो सम्पर्क होता है उससे ऐसे बन्धनों का निर्माण होता है, जिससे जीव को कई प्रकार की अवस्थाओं से गुजरना पड़ जाता है। कई अनुभव करने पड़ते हैं। यह संसार है। यदि जीव एवं अजीव के सम्पर्क की इस धारा को रोक दिया जाए और सम्पर्क से उत्पन्न बन्धनों को नष्ट कर दिया जाए तो जीव अपनी शुद्ध एवं मुक्त अवस्था को प्राप्त हो सकता है। यह जीव का मोक्ष है। इस पूरी प्रक्रिया का संचालन करने वाले तत्त्व सात हैं : जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, और मोक्ष।<sup>4</sup> इनमें पाप एवं पुण्य इन दो तत्त्वों को जोड़ कर कुल नौ तत्त्व जैन दर्शन में माने जाते हैं। इनमें से जीव का सम्बन्ध जैन दर्शन की तत्त्व-मीमांसा में है। पाप, पुण्य, आस्रव एवं बन्ध कर्म-सिद्धान्त से सम्बन्धित है। संवर और निर्जरा के अन्तर्गत जैनधर्म की सम्पूर्ण आचार-संहिता आ जाती है। गृहस्थ और मुनिधर्म का विवेचन इन्हीं के अन्तर्गत होता है, तथा अन्तिम तत्त्व 'मोक्ष' जैन दर्शन की दृष्टि से जीवन की वह सर्वोत्तम अवस्था है, जिसे प्राप्त करना प्रत्येक धार्मिक व्यक्ति का अन्तिम लक्ष्य है। इसी के लिए आत्म-साक्षात्कार एवं ध्यान आदि की साधना की जाती है। संक्षेप में जैन दर्शन का सार यही है। जैनधर्म की सभी विशेषताएँ एवं आचरण इसी से सम्बन्धित हैं।<sup>5</sup> 'सर्वदर्शन-संग्रह' में जैनधर्म को संक्षेप में प्रस्तुत करते हुए कहा गया है—कर्म-परमाणुओं का आना (आस्रव) संसार का कारण है और उनके आगमन को रोक देना (संवर) ही मोक्ष का कारण है। संक्षेप में यही अर्हत् (जैन) दृष्टि है; बाकी सब इसका विस्तार है—

आस्रवो भवहेतुः स्यात्संवरो मोक्षकारणम् ।  
इतीयमाहृतीदृष्टिरन्यदस्याः प्रपञ्चनम् ॥<sup>5</sup>

जैन आचार :

पाश्चात्य दर्शनों में आचार-संहिता का सम्बन्ध प्रायः नैतिक कर्तव्यों से है। सही और अच्छे आचारण का अध्ययन करना आचार-शास्त्र का मुख्य विषय है।<sup>6</sup> भारतीय दार्शनिकों की दृष्टि से दर्शन, धर्म आचार, नीति, अध्यात्म आदि शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थ हैं; किन्तु सामान्यतया आचार-संहिता का सम्बन्ध धार्मिक आचरण से ही अधिक है। कुछ दार्शनिक परम्परागत रीति-रिवाजों एवं धार्मिक क्रियाकाण्डों के परिपालन को ही धर्म कहते हैं। यही उनकी आचार-संहिता है; किन्तु कुछ दार्शनिकों ने अहिंसा, सत्य, संयम आदि विश्वजनीन मूल्यों को जीवन में उतारने/अपनाने को आचार माना है। कुछ ऐसे भी विचारक हैं, जो उस आचारण को आचार कहते हैं, जो सांसारिक दुःखों को दूर करने में सहायक हो तथा जिससे आध्यात्मिक उपलब्धि हो। वस्तुतः जैनधर्म की आचार-संहिता इसी विचार-धारा से सम्बन्ध रखती है। आचार्य कुन्दकुन्द का यह कथन कि चारिन्तं खलु धम्मो (चारित्र्य ही धर्म है) तथा 'दशवैकालिकसूत्र' की यह उक्ति कि अहिंसा, संयम और तप सेल्लयुक्त धर्म उत्कृष्ट मंगल है? जैनधर्म की उसी मूल भावना को प्रकट करते हैं, जिनमें आचार को अध्यात्म-प्राप्ति का साधन माना गया है। अतः जैन आचार-संहिता केवल नैतिक नियमों से सम्बन्धित नहीं है, तत्त्वज्ञान और अध्यात्म से भी वह जुड़ी हुई है। व्यवहारिक दृष्टि से जैन आचार-संहिता जहाँ एक ओर व्यक्ति और समाज को नागरिक गुणों से युक्त करती है, वहीं दूसरी ओर पारमार्थिक दृष्टि से वह उनका मुक्तिमार्ग प्रशस्त करती है। वस्तुतः जैन आचार-संहिता में व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक जीवन-पद्धति का समन्वय है। इसकी अन्य कई विशेषताएँ हैं;<sup>8</sup> जिन्हें यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

कर्म-सिद्धान्त :

भौतिक-विज्ञान में जो भूमिका कारण और कार्य की है, लगभग वही भूमिका आचार-शास्त्र में कर्म-सिद्धान्त की है। जैनधर्म में कर्म-सिद्धान्त की आधार-शिला पर ही उसकी आचार-संहिता का भवन खड़ा हुआ है। जैन दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति अपने द्वारा किये गये अच्छे-बुरे कर्मों के फल भोगने के लिए स्वयं जिम्मेदार है, प्राकृतिक और व्यावहारिक नियम भी यही है कि जैसा बीज बोया जाता है, उसका फल भी वैसे ही मिलता है। जैन-दर्शन ने यही दृष्टि प्रदान की कि अच्छे कर्म करने से सुख और बुरे कर्म करने से दुःख मिलता है; अतः व्यक्ति को मन में अच्छी भावना रखनी चाहिये, वाणी-से अच्छे वचन बोलना चाहिये और शरीर से अच्छे कार्य करना चाहिये। आत्मा ऐसा करने के लिए स्वतन्त्र और समर्थ है। आत्मा ही दुःख एवं सुख का कर्ता एवं विकर्ता है। सुमार्ग पर चलने वाला आत्मा अपना मित्र है और कुमार्ग पर चलने वाला आत्मा स्वयं का शत्रु है; यथा—

अप्पा कत्ता विकत्ता य. दुहाण य सहाण य ।

अप्पा भित्तमभित्तं च. दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ ॥<sup>9</sup>

कर्म-बन्धन की प्रक्रिया एवं अच्छे-बुरे कर्मों का स्वरूप तथा उनके फल देने की प्रक्रिया आदि के सम्बन्ध में जैन दर्शन में विस्तार में विन्नन प्रस्तुत किया गया है।<sup>10</sup> मन, वचन और काय की प्रवृत्ति (योग) तथा रागद्वेष के भावों (कपाय) के द्वारा आत्मा के साथ कर्म-परमाणुओं का बन्ध होता है। ये कर्म-परमाणु आत्मा की मिथ्या धारणाओं, प्रवृत्तियों, प्रमाद, व्रत-रहित जीवन आदि कार्यों से आत्मा की ओर आते हैं। यही आस्रव तत्त्व है। वहाँ आत्मा के योग और कषाय के अनुसार ये आत्मा के साथ बंध जाते हैं तथा समय आने पर वे ही उसे सुख-दुःख देते हैं; अतः यदि आत्मा चाहे तो अपने सही दृष्टिकोण, व्रत-युक्त जीवन, अप्रमाद और शुभ योग से इन कर्मों को अपने से रोक सकता है। जो कर्म आ चुके हैं उन्हें आत्मा अपने संयमित जीवन, तप और ध्यान आदि की प्रक्रिया के द्वारा कम कर सकता है। उनके फल को बदल सकता है। यही व्यक्ति का सार्थक पुरुषार्थ है। इस पुरुषार्थ में व्यक्ति को किसी ईश्वर आदि की कृपा की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि वह स्वयं अपने सुख-दुःख का रचयिता है।

मनुष्य जैसा कर्म करता है, वैसा फल भोगता है : यह सिद्धान्त कई दर्शनों में प्रतिपादित है। इस कर्म-सिद्धान्त ने व्यक्ति को भाग्यवादी बना दिया था; क्योंकि जो उसने पूर्वकर्म किये हैं; उनसे ही उसका वर्तमान जीवन संचालित होता है। इस विचारधारा ने मनुष्य को ईश्वर की परतन्त्रता से निकाल कर कर्म-सिद्धान्त के हाथों कैद कर दिया था। यही कारण है कि सुख-दुःख के कारण के लिए भारतीय दर्शनों में कई मत प्रचलित हो गये थे। ममय, भाग्य, पुरुष, प्रकृति, संयोग आदि कई कारण सुख-दुःख के हेतु माने जाने लगे थे।<sup>11</sup> व्यक्ति के हाथ में ऐसा कुछ नहीं रह गया था कि वह इन पर विजय प्राप्त कर सके; किन्तु जैन-दर्शन ने इस दिशा में अपने मौलिक विचार प्रस्तुत किये। जैन आचार-संहिता के अनुसार व्यक्ति अपने पुरुषार्थ से कर्मों की अवांछ को घटा-बढ़ा सकता है और उनकी फल देने की शक्ति को कम-ज्यादा कर सकता है। इसे 'उदीरणा' कहा गया है। इसी तरह व्यक्ति अपने असत् कर्मों के कारण पुण्य को पाप में और सत् कार्यों के द्वारा पाप पुण्य में बदल सकता है। इसे 'संक्रमण' कहा गया है। ज्ञान और संयम के बल से आत्मा कर्मों के फल देने की शक्ति को भी रोक सकता है, इसे 'उपशमन' कहते हैं।<sup>12</sup> इसी तरह की कई प्रक्रियाएँ जैन धर्म के कर्म-सिद्धान्त में वर्णित हैं। इस बदलाव की प्रक्रिया ने व्यक्ति को भाग्यवादी बनने से बचा लिया। उसमें ऐसा विश्वास और पुरुषार्थ जागृत किया कि वह सदाचरण में प्रवृत्त हो सके; अतः जागरण और पुरुषार्थ जैन आचार-संहिता के दो आधार-स्तम्भ हैं। इस तरह कर्मवाद जैन आचार का एक महत्त्वपूर्ण, प्राचीन और मौलिक सिद्धान्त है।<sup>13</sup>

### मानवता मूल्यांकन :

जैन कर्म-सिद्धान्त के प्रतिपादन से यह स्पष्ट हुआ है कि आत्मा ही अच्छे-बुरे कर्मों की केन्द्र है। आत्मा मूलतः अनन्त शक्तियों की केन्द्र है। ज्ञान और चैतन्य उसके प्रमुख गुण हैं; किन्तु कर्मों के आवरण से उसका शुद्ध स्वरूप छिप जाता है। जैन आचार-संहिता प्रतिपादित करती है कि व्यक्ति का अन्तिम उद्देश्य आत्मा के इसी शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करना होना चाहिये; तब यही आत्मा परमात्मा हो जाता है। आत्मा को परमात्मा में प्रकट करने की शक्ति जैन दर्शन ने मनुष्य में मानी है; क्योंकि मनुष्य में इच्छा, संकल्प, और विचार-शक्ति है इसलिए वह स्वतन्त्र क्रिया कर सकता है, अतः सांसारिक प्रगति और आध्यात्मिक उन्नति इन दोनों का मुख्य सूत्रधार मनुष्य ही है। जैन दृष्टि से यद्यपि सारी आत्माएँ समान हैं, सब में परमात्मा बनने के गुण विद्यमान हैं; किन्तु उन गुणों की प्राप्ति मनुष्य-जीवन में ही संभव है, क्योंकि सदाचरण एव संयम का जीवन मनुष्य-भव ही हो सकता है। इस प्रकार जैन आचार-संहिता ने मानवता को जो प्रतिष्ठा दी है, वह अनुत्तम है। जैन आगम-ग्रन्थों में स्पष्ट कहा गया है कि अहिंसा, संयम, तप-रूप धर्म का जो आचरण करता है उस मनुष्य को देवता भी नमस्कार करते हैं; यथा—

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो ।

देवावि तं नमसंति जस्स धम्मो सया मणो ॥

मनुष्य की इसी श्रेष्ठता के कारण जैनधर्म में दैवीय शक्ति वाले ईश्वर का कोई महत्त्व नहीं रहा। जैन दृष्टि से ऐसा कोई व्यक्ति ईश्वर हो ही नहीं सकता, जिसमें संसार को बनाने, या नष्ट करने की इच्छा बाकी हो। यह किसी भी दैवीय शक्ति के सामर्थ्य के बाहर की वस्तु है कि वह किसी भी द्रव्य को बदल सके तथा किसी व्यक्ति को सुख-दुःख दे सके; क्योंकि हर द्रव्य गुणात्मक और स्वतन्त्र है। प्रकृति स्वयं अपने नियमों से संचालित है। व्यक्ति को सुख-दुःख उसके कर्म और पुरुषार्थ के अनुसार मिलने हैं; अतः जैन आचार-संहिता में ईश्वर का वह अस्तित्व नहीं है जो मुस्लिम धर्म में मुहम्मद साहब का तथा ईसाई धर्म में ईसा मसीह का है। हिन्दू धर्म का सर्वशक्तिमान ईश्वर भी जैन धर्म में स्वीकृत नहीं है क्योंकि इससे मनुष्य की स्वतन्त्रता और पुरुषार्थ बाधित होते हैं<sup>15</sup>; प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन होता है। जैन धर्म का यह दृष्टिकोण वर्तमान युग के वैज्ञानिक दृष्टिकोण से समर्थित है।

जैन धर्म में यद्यपि ईश्वर जैसी उस सत्ता को स्वीकार नहीं किया गया है, जो संसार के बनाने अथवा नष्ट करने में कारण है; तथापि जैन आचार-संहिता आत्मा के उस शुद्ध स्वरूप के अस्तित्व को स्वीकार करती है, जो अपने श्रेष्ठतम गुणों के कारण परमात्मा हो चुकी है। ऐसे अनेक परमात्मा जैनधर्म में स्वीकृत हैं,



जो अनन्त सुखों का अन्भव करते हैं तथा इन संसार से मुक्त हैं। ऐसे परमात्माओं को जैन आचार-संहिता में 'अर्हत्' एवं 'सिद्ध' कहा गया है। ये वे परम आत्माएँ हैं, जिन्होंने इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर आत्मा के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार किया है। इन्हें आप्त, सर्वज्ञ, वीतरागी, केवली आदि नामों से भी जाना जाता है। इन अर्हत् एवं सिद्धों की भक्ति तथा पूजा करने का विधान भी जैन आचार-संहिता में है; किन्तु इनसे कोई सांसारिक लाभ की अपेक्षा नहीं की जाती। इनकी भक्ति उनके आध्यात्मिक गुणों को प्राप्त करने के लिए ही की जाती है, जिसके लिए भक्त को मंत्र्यं पुरुषार्थ करना पड़ता है।<sup>16</sup> इस भक्ति से व्यक्ति की भावनाएँ पवित्र होती हैं, जिससे उनका आचरण निरन्तर शुद्ध होता जाता है; तथा आत्मा क्रमशः विकास को प्राप्त होती है। जैन आचार-संहिता में आत्मा की तीन कोटियाँ मानी गयी हैं<sup>17</sup>

(1) बहिरात्मा, जो शरीर को ही आत्मा समझता हुआ सांसारिक विषयों में लीन रहता है; (2) अन्तरात्मा, जो शरीर और आत्मा के भेद को समझता है तथा शरीर के मोह-को छोड़ कर आत्मा के स्वरूप को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है; तथा (3) परमात्मा, जिसने आत्मा के सच्चे स्वरूप को जान लिया है और जो अनन्त ज्ञान तथा सुख का धनी है।

जैन आचार-संहिता के सोपान (त्रिरत्न) :

जैनधर्म में तत्त्व-निरूपण द्वारा लोक के स्वरूप का विवेचन करके तथा कर्म-सिद्धान्त के प्रतिपादन द्वारा मनुष्य में संकल्प और पुरुषार्थ की जागृति करके उसे आत्म-साधना का जो मार्ग बतलाया गया, वही जैन आचार-संहिता का प्रमुख सोपान है। जैनाचार्य उमास्वामी ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यग्चारित्र्य इन तीनों को मोक्ष का मार्ग कहा है—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याणिमोक्षमार्गः।<sup>18</sup>

मोक्ष मार्ग में इन तीनों की प्रधानता होने से इन्हें 'त्रिरत्न' भी कहा गया है। इन तीनों का पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध है।<sup>19</sup>

सम्यग्दर्शन आत्म-साधना का प्रथम सोपान है। जीव, अजीव आदि तत्त्वों के स्वरूप पर श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। इससे व्यक्ति का दृष्टिकोण सही बनता है। यदि दृष्टि सही और विवेकपूर्ण है, तो ज्ञान और आचरण भी सही होगा। इस दृष्टि से जैन आचार-संहिता में सम्यग्दर्शन तभी होता है, जब मिथ्यादृष्टि का, अज्ञान का अभाव हो जाए। जैनधर्म की परिभाषा में सम्यग्दर्शन को 'आध्यात्मिक जागृति' कहा गया है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से व्यक्ति आत्मा के स्वरूप को जानने लगता है; अतः वह निर्भय और अहिंसक बन जाता है। उसके मन में सब जीवों के प्रति मंत्री-भाव जागृत हो जाता है। जैनधर्म में सम्यग्दर्शन का जो सूक्ष्म विवेचन हुआ है, उससे ज्ञात होता है कि व्यावहारिक दृष्टि से सम्यग्दृष्टि व्यक्ति अचछा नागरिक और नैतिक जीवन जीने वाला गृहस्थ बन जाता है। उसे जीवन को जीने की कला आ जाती है। जैन ग्रन्थों में सम्यग्दर्शन के जो आठ अंग प्रतिपादित हैं, वे वस्तुतः

सम्यग्दृष्टि-संपन्न व्यक्ति के व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन के उत्थान की सीढ़ियाँ ही हैं।<sup>20</sup>

सम्यग्दर्शन के उपरान्त साधक सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति करता है। जिन तत्त्वों पर उसने श्रद्धा किया था, उन्हीं को वह पूर्ण रूप में जब जानता है, तब उसे सम्यग्ज्ञान की उपलब्धि होती है। वस्तुतः शरीर और आत्मा, अथवा जड़ और चेतन के स्वरूप को, उनके सम्बन्ध को पूर्ण रूप से जानना ही, 'सम्यग्ज्ञान' है। जैन आचार-संहिता में इस आत्म-ज्ञान का इसलिए विशेष महत्त्व है कि इसी ज्ञान के आधार पर व्यक्ति का आचरण फलित होता है। यदि उसके दर्शन और ज्ञान में कोई दोष रह गया तो उसका आचरण भी निर्दोष नहीं हो सकता, इस कारण ज्ञान की बड़ी सूक्ष्म व्याख्या जैनदर्शन में की गयी है।<sup>21</sup> मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यय, एवं केवलज्ञान ये ज्ञान की पाँच अवस्थाएँ हैं<sup>22</sup>, साधक जिन्हें क्रमशः प्राप्त करता है। केवलज्ञान ही पूर्ण एवं शुद्ध आध्यात्मिक ज्ञान है।

जैन आचार-संहिता में सम्यग्ज्ञान का निरूपण करते समय व्यावहारिक दृष्टि-कोण भी अपनाया गया है। जैन दृष्टि से प्रत्येक पदार्थ अनन्त गुणों का पुँज है। एक छोटे से परमाणु में भी अपरंपार शक्ति है, अनेक गुण हैं। जैसे, जल में शीतलता है, तरलता है, मधुरता है, बिजली है इत्यादि अनेक गुण हैं; किन्तु कुछ ऐसे गुण भी उसमें हैं जो हमारे अनुभव में नहीं आते; अतः पदार्थ में अनन्त गुण माने गये हैं। परस्पर विरुद्ध होने वाले गुण भी एक ही पदार्थ में विद्यमान होते हैं; किन्तु हम एक समय में एक दृष्टिकोण से पदार्थ के कुछ ही गुणों को जान पाते हैं; अतः जैन दर्शन का कथन है कि हमें वस्तु-स्वरूप का निरूपण करते समय उसके दूसरे गुणों की संभावना को भी स्थान देना चाहिए। यह चिन्तन जैन दर्शन का 'अनेकान्तवाद' नामक सिद्धान्त कहलाता है। विरोधों में समन्वय स्थापित करना इस सिद्धान्त की मूल भावना है।<sup>23</sup> इससे स्पष्ट है कि जैनदर्शन ने बड़ी उदारता से यह उद्घोषणा की है कि सत्य किसी एक व्यक्ति, जाति, धर्म, अथवा देश की सीमा में बँधा हुआ नहीं है। सत्य की अखण्डता को आदर देते हुए उसके बहुआयामों को जानने का प्रयत्न करना ही सम्यग्ज्ञान का विषय है।

वस्तु के अनन्त धर्मात्मक होने के कारण उसके स्वरूप का कथन भी एक साथ नहीं किया जा सकता; अतः जैनदर्शन ने अपेक्षा की दृष्टि से कथन करने की बात कही है। अनेक गुणों को प्रकट करने की इस भाषिक शैली को 'स्याद्वाद' कहा गया है। स्याद्वाद में आग्रह के लिए कोई स्थान नहीं है। जैनदर्शन की ज्ञान-मीमांसा के इस अनेकान्तवाद और स्याद्वाद नामक सिद्धान्तों ने मानव के मस्तिष्क को उदार बनाया है। इससे प्रकृति के नाना रहस्यों को जानने की संभावनाएँ बढ़ी हैं। ज्ञाता का अग्रंभाव इससे तिरोहित हुआ है। यदि वर्तमान युग में वैज्ञानिक क्षेत्र में इस अनेकान्तवाद का प्रयोग हो तो अशान्ति और युद्ध के बड़े-से-बड़े खतरों के टाले जाने

की संभावना है। मानवता की सुरक्षा ऐसे उदारवादी दृष्टिकोणों और अनाग्रही वृत्तियों से ही हो सकती है।

जैन आचार-संहिता का मूलाधार सम्यक् चारित्र्य है। जैन ग्रन्थों में चारित्र्य का विवेचन गृहस्थों और साधुओं की जीवन-चर्या को ध्यान में रख कर किया गया है। साधु-जीवन के लिए जिस आचरण का विधान किया गया है उसका प्रमुख उद्देश्य आत्म-साक्षात्कार है, जबकि गृहस्थों के चारित्र्य-विधान में व्यक्ति एवं समाज के उत्थान की बात भी सम्मिलित है।<sup>24</sup> इस तरह निवृत्ति एवं प्रवृत्ति मार्ग दोनों का समन्वय जैन आचार-संहिता में हुआ है। आत्महित और परहित का सामंजस्य सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की पृष्ठभूमि में सम्यक्चारित्र्य में सहज उपस्थित हो जाता है। निज का स्वार्थ-साधन, दूसरों के प्रति द्वेष और ईर्ष्याभाव तथा हिंसक वृत्ति का त्याग व्यक्ति सम्यग्दर्शन को उपलब्ध होते ही कर देता है। वस्तुओं का सही ज्ञान होते ही वह आत्मकल्याण तथा परहित की बात सोचने लगता है। उसमें आत्मा के गुणों को जगाने का पुरुषार्थ तथा जगत् के जीवों के प्रति करुणा और मैत्री का भाव जागृत हो जाता है। अनेकान्तवाद की वैचारिक उदारता से परिचित होते ही व्यक्ति अनाग्रहपूर्ण जीवन जीने लगता है; अतः उसके कदम सम्यक् चारित्र्य की भूमि को स्पर्श करने लगते हैं। यहाँ आकर साधक अहिंसा की पूर्ण साधना का प्रयत्न करता है। वस्तुतः जैन आचार-संहिता के सभी व्रत-नियम अहिंसा की साधना के लिए ही हैं। अहिंसा के बिना जैन आचार शून्य है। मानवता-का-कल्याण अहिंसा में ही सन्निहित है; इसीलिए जैन आचार में इसका सूक्ष्म और मौलिक विवेचन मिलता है।

**आचार-संहिता : गृहस्थ और मनि :**

जैन आचार-संहिता में गृहस्थ धर्म के अन्तर्गत प्रमुख रूप से पाँच व्रतों, तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों का विवेचन है।<sup>25</sup> अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह इन पाँच व्रतों का पालन गृहस्थ अपनी सामाजिक सीमा में रहते हुए करता है, अतः आशिक रूप से पालन होने के कारण इन्हें 'अणुव्रत' कहा गया है, जबकि मुनि-जीवन में इनका पूर्णरूप से पालन करने का विधान होने से ये 'महाव्रत' कहलाते हैं। इन पाँच व्रतों का कार्यक्षेत्र व्यक्ति की अपेक्षा समाज में अधिक है, अतः जैन आचार ने व्यक्ति में सामाजिक गुणों के विकास की ओर ध्यान दिया है। मनुष्य में 'असत्' वृत्तियों के प्रति अरुचि और सदाचार के प्रति रुचि जागृत हो इसके लिए उसे जीव-मात्र के प्रति मैत्रीभाव, गुणीजनों के प्रति प्रमोद, दीन-दुखियों के प्रति करुणामाव तथा विरोधियों के प्रति पक्षपातरहित माध्यस्थ्य भाव रखने की प्रेरणा जैन आचार्यों ने दी है। सदाचारी गृहस्थ का सामाजिक जीवन मर्यादित हो एवं उसमें संचय की वृत्ति न बढ़े इसके लिए उसे दिग्ब्रत, देशव्रत, एवं अनर्थदण्डव्रत इन गुणों को पालन करने के लिए कहा गया है। वह दैनिक जीवन में धार्मिक आचरण से

विमुख न हो तथा उसमें दान की वृत्ति बनी रहे, इसके लिए उसे चार शिक्षाव्रतों को पालन करने का विधान किया गया।<sup>26</sup> जब जैन गृहस्थ इन बारह व्रतों का पालन करने लगता है, तब उसके धार्मिक जीवन की यात्रा आगे बढ़ती है। वह अपनी शक्ति और रुचि के अनुसार साधु-जीवन के संयम-पालन की तरफ कदम बढ़ाता है, इसके लिए उसे क्रमशः ग्यारह व्रतों का पालन करना पड़ता है। इन्हे 'प्रतिमा' कहा गया है। ग्यारहवीं प्रतिमा (उद्दिष्ट त्याग) की साधना के उपरान्त मुनिधर्म का आचार प्रारम्भ हो जाता है।

जैन आचार-शास्त्र के अनुसार मुनि-जीवन का आचार प्रायः निवृत्तिपरक है। उसमें सभी क्रियाएँ आत्मा के साक्षात्कार में सहायक होती हैं। पाँच समितियों, तीन गुप्तियों, छह आवश्यकों आदि की साधना प्रमुख है। बारह प्रकार के तपों की साधना करता हुआ जैन मुनि ध्यान की उत्कृष्ट अवस्था में पहुँचता है। वहाँ वह उस परमज्ञान को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है, जिससे वह परमात्मा की कोटि में आ सके। संक्षेप में, यही जैन आचार-संहिता की परिणति है। मुनि-जीवन की इसी कठोर साधना के कारण जैन आचार-संहिता को प्रायः निवृत्तिमूलक एवं व्यक्तिवादी आचार की संज्ञा कुछ विद्वान् देते हैं। यह किन्तु आंशिक सत्य है। वस्तुतः जैन आचार व्यक्ति के गुणात्मक विकास के साथ-साथ पूरी मानव-जाति के उत्थान की भावना अपने में समाये हुए है। प्राणि-मात्र के प्रति जीवन-रक्षा की भावना जैन आचार में निहित है। सम्पूर्ण जैन आचार-संहिता में से निम्नांकित कुछ ऐसे विश्व-व्यापी मूल्य हैं, जो मानव-कल्याण के साथ-साथ प्राणिमात्र को जीवन की सुरक्षा प्रदान करने में सक्षम हैं।

जैन आचार-संहिता सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र की साधना द्वारा पालन की जाती है, जिसका परिणाम अहिंसा, अनेकान्त एवं अपरिग्रह इन तीन प्रमुख प्रवृत्तियों के रूप में प्राप्त होता है।<sup>27</sup> सम्यग्दर्शन से सही दृष्टि प्राप्त होती है। पदार्थों का वास्तविक रूप ज्ञात होता है। आत्मा और शरीर का सम्बन्ध-बोध होता है; अतः सम्यग्दर्शन को उपलब्ध व्यक्ति अनासक्त हो जाता है। अनासक्ति से वह अपरिग्रह व्रत के पालन का अधिकारी बनता है। उसे निम्न, अमर और सर्व-गुण-सम्पन्न आत्मा के लिए फिर वस्तुओं के संग्रह और उन्में मोह की आवश्यकता नहीं रह जाती। सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति से व्यक्ति अनाग्रह चित्त वाला हो जाता है। उसमें अनेकान्तवाद फलित हो जाता है। वह प्रत्येक वस्तु के विभिन्न पहलुओं और उससे संबद्ध सम्भावनाओं को महत्त्व देता हुआ वैचारिक दृष्टि से उदारमना हो जाता है। अनासक्त और अनाग्रह चित्त वाले व्यक्ति के लिए सभी प्राणियों में समत्वभाव आ जाता है, यही सम्यक् चारित्र की उपलब्धि है।

समत्व को प्राप्त व्यक्ति से हिंसा होना असंभव होता है। वह अन्तर एवं बाह्य दोनों ओर से शुद्ध विचार वाला व्यक्ति होता है, अतः उसके सभी कार्य तथा

आचरण अहिंसक होते हैं। इस तरह जैन आचार प्रमुख रूप से जीवनवृत्ति में अनासक्ति (अपरिग्रह), विचार में अनाग्रह (अनेकान्त) और आचरण में समत्व (अहिंसा) इन तीन आचारों का ही प्रतिपादन करता है। यदि दूसरे शब्दों में कहा जाए तो जैन आचार-संहिता मन, वाणी, और शरीर इन तीनों की पवित्रता में विश्वास रखती है। अनासक्ति (त्यागभावना) के द्वारा मन के दुराचरण को, अनाग्रह (अनेकान्त) के द्वारा वाणी के दुराचरण (वंचारिक असहिष्णुता) को, और अहिंसा द्वारा शरीर के दुराचरण (हिंसा, शोषण, परिताप आदि) को दूर करने का प्रयत्न जैन आचार द्वारा किया जाता है। इसी में मानव-कल्याण एवं प्राणि-संरक्षण की भावना छिपी हुई है। इनका पालन करने वाला ही सच्चा जैन है। सच्चा मानव है।

**अहिंसा : जैन आचार का मूलाधार :**

जैन शास्त्रों के अध्ययन से यह मलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि समस्त जैन आचार अहिंसा की नींव पर खड़ा है। आचारांगसूत्र में भगवान् महावीर ने अहिंसा को ही शुद्ध, नित्य, और शाश्वत धर्म कहा है। यह धर्म लोक-पीड़ा का हरण करने वाला है। अहिंसा के व्यापक क्षेत्र का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि किसी भी प्राणी, भूत, जीव, और सत्त्व का हनन नहीं करना चाहिये, उन पर शासन नहीं करना चाहिये, उन्हें दास नहीं बनाना चाहिये, उन्हें परिताप नहीं देना चाहिये, उनका प्राण-नियोजन नहीं करना चाहिये।<sup>28</sup> यही ज्ञानी होने का सार है और यही समस्त धर्मों का सार है कि किसी प्राणी की हिंसा न हो।<sup>29</sup> अहिंसा चर एवं अचर सभी प्राणियों का कल्याण करने वाली है।<sup>30</sup> अहिंसा के समान दुसरा धर्म नहीं है। भगवती आराधना में कहा गया है कि अहिंसा सभी जीवन-पद्धतियों (आश्रमों) का हृदय है और सभी ज्ञानों का उत्पत्ति-स्थान है।<sup>31</sup> आचार्य अमृतचन्द्र ने जैन आचार के सभी आचार-नियमों को अहिंसा से ही विकसित माना है।<sup>32</sup> इस तरह अहिंसा वास्तव में जैन आचार का मूलाधार है; और अहिंसा का आधार सभी प्राणियों में आत्मवत् दृष्टि है।

जैन आचार-संहिता में अहिंसा के आध्यात्मिक पक्ष के साथ-साथ उसके सामाजिक एवं व्यावहारिक पक्ष पर भी विस्तृत चिन्तन किया गया है : गृहस्थ जीवन में रहते हुए परिवार, समाज, देश आदि के प्रति व्यक्ति के कई कर्तव्य होते हैं। उन कर्तव्यों का पालन करने में कुछ हिंसा हो जाती है; अतः जैन आचार-संहिता में हिंसा के चार स्तर बताये गये हैं।

1. सकल्पजा हिंसा : जान-बूझ कर संकल्प करके किसी पर आक्रमण करना।
- 2, विरोधजा हिंसा : जीवन के अधिकारों की सुरक्षा के लिए विवश हो कर हिंसात्मक प्रवृत्ति करना।

3. उद्योगजा हिंसा : आजीविका के लिए व्यापार, कृषि आदि में हिंसात्मक प्रवृत्ति करना ।
4. आरम्भजा हिंसा : जीवन-निर्वाह के लिए भोजन आदि तैयार करने एवं दैनिक कार्यों में होने वाली हिंसा ।

इनमें से प्रथम हिंसा जैन दृष्टि से सभी व्यक्तियों के लिए त्याज्य है । द्वितीय तथा तृतीय प्रकार की हिंसा गृहस्थ जीवन में व्यक्त कर सकता है; किन्तु उसमें भी उसके विचारों में शुद्धता और अनासक्ति होना आवश्यक है । चतुर्थ प्रकार की आरम्भजा हिंसा गृहस्थ और साधु दोनों के जीवन में होती है । जैन दृष्टि से इस हिंसा से भी बचने का यथासम्भव प्रयत्न किया जाता है, जिसका मूल उपाय आन्तरिक शुद्धि को उपलब्ध करना है; अतः सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाए तो जैन आचार-संहिता में हिंसा का सूक्ष्म रूप भी धर्म में स्वीकृत नहीं है । हिंसा चाहे विचारों की हो अथवा बाह्य रूप में शारीरिक, दोनों ही जैन आचार का धार्मिक नियम नहीं हो सकती । पूर्ण अहिंसक होना ही जैन आचार का अन्तिम लक्ष्य है । इस लक्ष्य की पूर्ति में सभी प्राणियों के प्रति करुणा, प्रेम, मैत्री, समानता, सहिष्णुता आदि का जो व्यवहार किया जाता है, वही अहिंसा की सामाजिक उपलब्धि है । जैन आचार की इस तीव्र अहिंसक दृष्टि ने भारतीय समाज में शाकाहारी जीवन-पद्धति को सुरक्षित रखा है । धन एवं सैन्य बल की कमी होने पर भी भारतीय मनोबल और चारित्रिक दृढ़ता को अहिंसा ने ऊँचाइयों तक पहुँचाया है । वर्तमान युग में महात्मा गांधी ने अहिंसा के जिस प्रयोग को विश्वव्यापी बनाया है वह जैन आचार में स्वीकृत अहिंसा का व्यावहारिक रूप ही है ।<sup>33</sup> इसके पूर्व भी जैन साहित्य में अनेक कथाएँ एवं जीवन-चरित्र अहिंसा की जीवन में साधना को स्पष्ट करते हैं ।<sup>34</sup>

**अन्य व्रतों का महत्व :**

अहिंसा की साधना के लिए ही जैन आचार में सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, दान आदि व्रतों का विधान है । जैन ग्रन्थों में इनकी सूक्ष्मतर व्याख्याएँ भी प्राप्त हैं; किन्तु यदि गहराई में देखा जाए तो जैन आचार आध्यात्मिक उपलब्धियों का ही सामाजिक परिणाम है । वस्तुतः अहिंसा का अर्थ आत्मज्ञान है । समताभाव की उपलब्धि है ।<sup>35</sup> जो व्यक्ति आत्मा और लोक के अन्य पदार्थों के स्वरूप का सही ज्ञान कर लेगा, उसकी वृत्ति इतनी सात्त्विक हो जाएगी कि उससे हिंसा हो न सकेगी; क्योंकि समानधर्मा जीवों को दुःख कौन पहुँचाना चाहेगा और किस लाभ के लिए ? जब व्यक्ति अहिंसा को अपने हृदय में इतना उतारेगा तभी वह सामाजिक हो सकेगा । अहिंसा की इस धुरी पर ही जैन आचार के अन्य व्रत गतिमान हैं ।

सत्य व्रत का अर्थ केवल झूठ बोलने से बचना नहीं है; इसका वास्तविक अर्थ है—संसार को उसके असली रूप में देखना; और स्वयं को असली रूप में

प्रकट करना। बनावटीपन का अभाव ही सत्यव्रत का पालन करना है। इस व्रत से व्यक्ति को अपनी सही सामर्थ्य का पता चल जाता है; अतः वह निर्भयता को प्राप्त हो जाता है। निर्भयता की स्थिति में चोरी करने की आवश्यकता नहीं रहती। किसकी सुरक्षा के लिए अथवा किम आवश्यकता की पूर्ति के लिए चोरी की जाए? अतः आत्मा और शरीर के इस भेद-विज्ञान का अनुभव ही अचौर्य है। इससे मिलावट, मुनाफाखोरी, कूट-व्यापार आदि चोरियों का उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है। शरीर के मिथ्या पोषण की भावना के कारण ही चोरी नहीं होगी; बेईमानी नहीं होगी। इस तरह जैन आचार ने इस समस्या का निदान मूल कारण को समाप्त करने में खोजा है।

ब्रह्मचर्य व्रत का पालन गृहस्थ और साधु दोनों के लिए आवश्यक है : मर्यादाओं में कुछ अन्तर है। वासनाओं पर विजय प्राप्त कर शक्ति के अपव्यय को रोकना इस व्रत की मूल भावना है; अतः जैन दृष्टि में ब्रह्मचर्य का आध्यात्मिक अर्थ किया गया ब्रह्म (परमात्मा)-जैसा आचरण; अर्थात् शुद्ध, निर्मल आत्मा के सुख का अनुभव करना। इसकी प्राप्ति के लिए स्वदारा-संतोष, शील का पालन, इन्द्रियों का निग्रह आदि सब साधन हैं।

जैन आचार-संहिता में अपरिग्रह व्रत की व्याख्या अनुपम है। परिग्रह की सीमा रखना वस्तुओं का अनावश्यक संग्रह न करना, समवितरण को महत्त्व देना, दान देना आदि सब अपरिग्रह की ओर जाने वाले रास्ते हैं; किन्तु वस्तुतः अपरिग्रह द्वारा शाश्वत सुरक्षा में पहुँचना इस व्रत का मूल उद्देश्य है। मनुष्य आत्मा के स्वभाव से, शक्ति से, समृद्धि से परिचित न होने के कारण असुरक्षा में जीता है; अभाव में बना रहता है। उसे लगता है कि वह वस्तुओं का जितना अधिक संग्रह कर लेगा, उतना ही सुरक्षित और सुखी हो जाएगा; किन्तु वह यह नहीं जानता कि अचेतन पदार्थ चेतन आत्मद्रव्य की क्या सुरक्षा करेंगे? आत्मा जो स्वयं पूर्ण और आनन्दमय है, उसे परिग्रह की वस्तुएं क्या दे सकेंगी? अतः महावीर ने कहा कि वस्तुओं में आसक्ति एक बेहोशी (मूर्च्छा) है—मूर्च्छा परिग्रहः। इस बेहोशी को तोड़ना ही अपरिग्रह है। यह मूर्च्छा आत्मा की पूर्णता को जानने से ही दूटेगी। व्यवहार में कम संचय, कम खर्च, कम आसक्ति करने से उस ओर जाने में मदद मिलेगी। इससे दूसरों का हक भी नहीं छिनेगा और समाज में सहअस्तित्व प्रगट होगा। जैन आचार ने अपरिग्रह व्रत पर उतना ही जोर दिया है, जितना अहिंसा पर; क्योंकि दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। संक्षेप में, ममत्व (तृष्णा) का बिसर्जन और समत्व (समविभाजन)—की-साधना का नाम ही 'अपरिग्रह' है। इससे ग्रह्यात्म और समाज दोनों प्रभावित होते हैं।

### सामाजिक योगदान :

जैन आचार का चिन्तन ग्रन्थात्म की भूमि पर, और उसका व्यवहार समाज के घरातल पर होता है। जैन व्रत-नियमों के पालन से व्यक्ति का गुणात्मक विकास होता है; और समाज में नैतिकता के फूल खिलते हैं; अतः जैन आचार-संहिता में समाज-चिन्तन उपेक्षित नहीं है, इसलिए जैनधर्म रंग-रेश में मानव-कल्याण के साथ जुड़ा हुआ है। सामाजिक जीवन के सन्दर्भ में जैन ग्रन्थों में विपुल सामग्री उपलब्ध है। जैन आचार सामाजिक आवश्यकता की दृष्टि से कई व्रत-विधान निरूपित करता है।<sup>36</sup> उनमें से कुछ इस प्रकार हैं :

### दान

जैन आचार-शास्त्र में गृहस्थ के शिक्षाव्रतों में एक है—अतिथि संविभागव्रत जिसमें अतिथि को भोजन, औषधि, शास्त्र आदि का दान विहित है। मनुष्य अपनी उपलब्धियों का समविभाजन कैसे करे, इसका सूक्ष्म विवेचन जैन ग्रन्थों में है। दान देते समय देने की विधि, देने की वस्तु, देने वाले (दाता), और ग्रहण करने वाले (पात्र) इन सब पर विचार करना आवश्यक है। देने वाले में अहंकार का भाव नहीं होना चाहिए, अपितु उसे क्षमाशील एवं कृतज्ञ होना चाहिये। उसके द्वारा दान में दी गयी वस्तुएँ मनुष्य के सदाचरण में सहायक होनी चाहिये।

### सेवा

‘अतिथिसंविभाग’ को समन्तभद्र ने ‘वैयावृत्य’ (सेवा) भी कहा है, जिसमें सदाचारी व्यक्ति की सेवा करना सम्मिलित है। इसी सेवा-भावना के कारण गृहस्थों को मुनि-संघ का माता-पिता कहा गया है। मुनियों के आचार में भी वैयावृत्य नामक एक तप माना गया है, जिसकी साधना में वे रोगी, वृद्ध एवं असहाय मुनियों की सेवा करते हैं। इस प्रकार की सेवा धर्म की सेवा मानी जाती है। जैन आचार में औषधि दान को प्रमुखता मिलने के कारण आज भी जैन समाज मानव-सेवा के कार्य में अग्रणी है। इससे वह अभय दान का लाभ भी प्राप्त करता है।

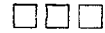
### स्वाध्याय

जैन आचार-ग्रन्थों में स्वाध्याय गृहस्थ एवं मुनि-जीवन दोनों के लिए एक महत्त्वपूर्ण सेवा मानी गयी है। अज्ञान को हटा कर ज्ञान की क्रिया में प्रवृत्त होना एवं दूसरों को भी इसी में लगाना स्वाध्याय की मूल भावना है। इससे शास्त्र-दान का उद्देश्य भी पूरा हो जाता है। शास्त्र-दान के विधान के कारण जैन परम्परा के गृहस्थों ने हजारों ग्रन्थ-भण्डारों की स्थापना की है, जो भारतीय समाज की सांस्कृतिक गतिविधियों के प्रमुख कन्द्र हैं। इनमें आज भी हजारों बहुमूल्य ग्रन्थ सुरक्षित हैं। इस प्रकार दान, सेवा, और स्वाध्याय आदि सामाजिक कार्यों द्वारा जैन आचार ने आध्यात्मिक जीवन को व्यावहारिक बनाया है। जीव, दया, औषधि-दान, अभय-दान सेवा आदि प्रवृत्तियों ने व्यक्तियों को मानव-कल्याण के लिए तो प्रेरित किया ही है,



साथ ही वह प्राणि-मात्र के जीवन-संरक्षण की दिशा में भी आगे बढ़ा है। मनुष्यों एवं पशुओं के अस्पताल से आगे बढ़ कर जैन समाज ने पक्षियों के अस्पताल भी खोले हैं, जो उनकी सेवा-भावना के अनुपम उदाहरण हैं। इस तरह जैन आचार आध्यात्मिक और तत्त्वज्ञान के धरातल पर जितना गंभीर एवं महत्त्वपूर्ण है, उतना ही वह सामाजिक क्षेत्र में भी उपयोगी है। जैन दर्शन के अनेकान्तवादी दृष्टिकोण ने जैन आचार को सर्वांगीण बना दिया है।<sup>37</sup>

वर्तमान मानव-समाज के सामने कई समस्याएँ हैं, किन्तु अभाव, स्वार्थपरता, अन्याय, अज्ञानता एवं हिंसा आज के मानव को सबसे अधिक संतप्त किये हुए हैं। अभाव को दूर करने के लिए मनुष्य ने विज्ञान का आविष्कार किया और तरह-तरह की सुख देने वाली सामग्री अपने चारों तरफ इकट्ठा कर ली; किन्तु फिर भी उसे आज सुख नहीं मिल रहा है। सर्वाधिक वस्तुओं से सर्वाधिक सुख का नारा आज व्यर्थ हो गया है; अतः ऐसी स्थिति में जैन आचार ने जो आत्मज्ञान का सिद्धान्त दिया है, वह मनुष्य के भीतर की शून्यता (रिक्तता) को भरता है। आत्म-सम्पदा से परिचित होने पर मनुष्य के लिए बाहर की वस्तुओं का अभाव, अथवा सद्भाव दुःखःसुख नहीं देगा। आत्मसुख के लिए ही मनुष्य स्वार्थी बन कर दूसरों के साथ अन्याय करता है; अतः जैन दर्शन ने सभी आत्माओं में समानता का उद्घोष कर इस समस्या के निराकरण का प्रयत्न किया है। अनेकान्त द्वारा आज के मानव की अज्ञान की समस्या का भी समाधान हो सकता है। वह ससार के बहुआयामी स्वरूप से परिचित हो सकता है। वैचारिक उदारता की प्राप्ति से वह एक विवेक-संपन्न वैज्ञानिक हो सकता है और इस तरह जब विज्ञान की प्रगति से सही दृष्टिकोण जुड़ जाएगा, उससे प्राणिमात्र का हित संबद्ध हो जाएगा, तब हिंसा का वातावरण स्वयमेव नष्ट हो जाएगा। विज्ञान और अहिंसा के इस मेल से ही मानवता का कल्याण संभव है। जैन आचार-संहिता इस दिशा में एक रचनात्मक भूमिका निभा सकती है।



### सन्दर्भ

1. जैन, हीरालाल : भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, भोपाल, 1962 पृ. 9-22
2. सोगाणी, कमलचन्द : एथिकल डॉक्ट्राइन्स इन जैनज्म, सोलापुर, 1967
3. जैनी, पद्मनाभ : जैन पाथ ऑफ प्यूरिफिकेशन, दिल्ली, 1971; पृ. 89-106
4. तत्त्वार्थसूत्र (अ. 1, सूत्र 4), : सं. संघवी, पं. मुखलाल, वाराणसी, 1952 (द्वि. सं.)
5. भागवत, दयानन्द : जैन एथिक्स, दिल्ली, 1968

6. मैकजी, जीन एस. : ए मैनुअल ऑफ एथिक्स, लन्दन, 1929
7. 'धम्मो मंगलमुक्खिवट्ठं अहिंसा संजमो तवो : दशवैकालिक, 1.1
8. भार्गव, दयानन्द : जैन एथिक्स, पृ. 37-38
9. उत्तराध्ययन सूत्र : प्र. 20, गा. 37
10. ग्लेसनेप, एच. : डाक्ट्राइन ऑफ कर्म इन जैन फिलासफी, बम्बई, 1942
11. श्वेताश्वतरोपनिषद् : 1.12
12. मुनि नथमल : जैन दर्शन : मनन और मीमांसा, चुरू 1977, पृ. 320
13. जेम्स, हेस्टिंग्स, (सं) : एन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स, न्यूयार्क, 1955, पृ. 472
14. दशवैकालिकसूत्र : अ. 1, गा. 1, लाडनू, पृ. 5
15. जैन, महेन्द्र कुमार, : जैन दर्शन, वाराणसी
16. उपाध्ये, ए. एन. (सं) : परमात्मप्रकाश, बम्बई, भूमिका, पृ. 36
17. कार्तिकेयानुप्रेक्षा : बम्बई, गा. 193-198
18. तत्त्वार्थसूत्र : 1.1
19. सर्वार्थसिद्धि (पूज्यपाद) : सं.—पं. फूलचन्द्र शास्त्री, वाराणसी, 1971, पैरा 5
10. सोगाणी, के. सी. : महावीर ग्रॉन इन्डिविजुअल एण्ड हिज सोशल रिस्पॉसिबिलिटी, (निबन्ध) ।
21. मालवणिया, दलमुख : आगम युग का जैन दर्शन, आगरा, 1966, पृ. 129
22. तत्थ पच्चविहं नाराणं सुय आग्निबोहियं ।  
ओहिनाणं तु तइयं मणनाराणं च केवल ॥ —उत्तराध्ययनसूत्र, 28.4
23. मुखर्जी, सतकारी : द जैन फिलासफी आफ नॉन एक्सोल्ड्युटिज्म; दिल्ली, वि. सं. 1978
24. शास्त्री, देवेन्द्रमुनि : जैन आचार सिद्धान्त और स्वरूप, उदयपुर 1982, पृ. 293
25. रत्नकरण्ड श्रावकाचार : (समन्तभद्र), दिल्ली
26. पुष्कर मुनि : श्रावक धर्म-दर्शन, उदयपुर, 1978, पृ. 383 आदि
27. जैन, स गरमल : जैन, बौद्ध और गीता का समाज-दर्शन, जयपुर, 1982, पृ. 51
28. सव्वे पाणा सव्वे भूता सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण हंतव्वा, ण अज्जावेयव्वा, ण परिघेतव्वा, ण परिरतावेयव्वा, ण उट्ठेयव्वा । — आचारांगसूत्र 1.4.1
29. सूत्रकृतांगसूत्र : 1.4.10
30. प्रश्नव्याकरणसूत्र : 2.1 21-22
31. भगवतीआराधना : गा. 790

32. पुरुषार्थसिद्धयुपाय : 42
33. कोठारी, डी. एस. : सम थॉट, ऑन साइन्स एण्ड रिलीजन, नई दिल्ली, 1977 पृ. 35-36
34. जैन, प्रेमसुमन : प्राकृत कथा साहित्य में अहिंसा का दृष्टिकोण; 'अमर-भारती', राजगृही, 1981
35. आचार्य नानालालजी : समता-दर्शन और व्यवहार, बीकानेर
36. भानावत, नरेन्द्र (सं.) भगवान् महावीर—आधुनिक सन्दर्भ में, बीकानेर 1974, पृ. 39-94
37. भागव, दयानन्द : जैन एथिक्स, पृ. 37



## अहिंसा : स्वरूप एवं प्रयोग

अहिंसा-संस्कृति प्रधान जैनधर्म में समता, सर्वभूतदया, संयम जैसे अनेक शब्द अहिंसा आचरण के लिए प्रयुक्त हैं। वास्तव में जहाँ भी राग-द्वेषमयी प्रवृत्ति दिखलायी पड़ेगी वहाँ हिंसा किसी न किसी रूप में उपस्थित हो जाएगी। सन्देह, अविश्वास, विरोध, क्रूरता और घृणा का परिहार प्रेम, उदारता, और सहानुभूति के बिना संभव नहीं है। प्रकृति और मानव दोनों की क्रूरताओं का निराकरण संयम द्वारा ही संभव है। इसी कारण जैनाचार्यों ने तीर्थ का विवेचन करते हुए कषायरहित निर्मल संयम की प्रवृत्ति को ही धर्म कहा है। यह संयमरूप अहिंसाधर्म वैयक्तिक और सामाजिक दोनों ही क्षेत्रों में समता और शान्ति स्थापित कर सकता है। इस धर्म का आचरण करने पर स्वार्थ, विद्वेष, सन्देह और अविश्वास को वहाँ भी स्थान नहीं है। व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों का परिष्कार भी संयम या अहिंसक प्रवृत्तियों द्वारा ही संभव है। कुन्दकुन्द स्वामी ने बताया है—

जं णिम्मलं सुधम्मं सम्मत्तं संजमं तवं णाणं ।  
तं तित्थं जिणयग्गे ह्वेइ जदि संतिभावेण ॥

—बो. पा. गा० २७ ।

राग-द्वेष का अभावरूप समताचरण ही व्यक्ति और समूह के मूल्यों को सुस्थिर रख सकता है। आत्मोत्थान के लिए यह जितना आवश्यक है, उतना ही जीवन और जगत् की विभिन्न समस्याओं के समाधान के लिए भी। वर्गभेद, जातिभेद आदि विभिन्न विषमताओं में समत्व और शान्ति का समाधान समता या समाचार ही है। मानवीय मूल्यों में जीवन को नियन्त्रित और नीतियुक्त बनाये रखने की क्षमता एकमात्र समता युक्त अहिंसाचरण में ही है। युद्ध, विद्वेष, और शत्रुता से मानव समाज की रक्षा करने के हेतु विधायक शब्द का प्रयोग करें तो वह समाचार कुटुम्ब, समाज, शिक्षा, व्यापार, शासन, संगठन प्रभृति में मर्यादा और नियमों की प्रतिष्ठा करता है, मानवीय मूल्यों की स्थापना करता है और प्राणि-जगत् में सुख-कल्याण का प्रादुर्भाव करता है।

मूलाचार ग्रन्थ में समाचार की महत्ता की बतलाते हुए लिखा है—

समदा समाचारो सम्माचारो समो वा आचारो ।  
सर्वेसि हिंसमाणं सामाचारो दु आचारो ॥

—गा० 123

अतएव स्पष्ट है कि अपने देश की गौरवपूर्ण परम्पराओं के अनुकूल विश्व-शान्ति के लिए समताचार अहिंसा की साधना अत्यावश्यक है। आज की परिवर्तित होती हुई परिस्थितियों और जीवन मूल्यों के अनुसार समाज और समूह के संघर्ष की समाप्ति का एक मात्र उपाय अहिंसाचरण ही है।

अहिंसा के विषय में जैन संस्कृति पग-पग पर सन्देश देती हुई अग्रसर होती है। जैन संस्कृति के वरिष्ठ विधायकों के अन्तःकरण में समूचे विश्व को ही नहीं, प्राणीमात्र को सुखी देखने की लालसा थी। यह उनके अन्तःकरण की पुकार थी। गहन अनुभूति की अभिव्यक्ति। यह अनुभूति शुद्ध प्रेम की अनुभूति थी, रागमुक्त प्रेम की। प्रेम का यही रूप सार्वभौमिक होता है। यह एक के प्रति नहीं, समस्त के प्रति होता है। तभी प्राणीमात्र का स्पन्दन अपनी आत्मा में सुनाई पड़ता है। इस स्पन्दन में सुख भी होता है, अपार दुःख भी। और तभी उस अपार दुःख के प्रति अन्तराल की गहराइयों से करुणा फूट पड़ती है। व्यक्ति व्यष्टि से निकलकर समिष्टि के रूप में दुःख-निवारण की बात सोचने लगता है। यही अहिंसा के जन्म की पृष्ठभूमि है।

अहिंसा की मूलभावना प्राणिमात्र को जीने का अधिकार प्रदान करती है। अपने आप में जीना कोई जीवन है? वह तो एक मशीनी जीवन है। जो अपना होकर नहीं रहता, वास्तव में वही सबका होकर जीता है। जैन संस्कृति के नियामकों का हृदय इसी भावना से अनुप्राणित था। इसलिए उन्होंने समवेत स्वर में कहा—सब जीव संसार में जीना चाहते हैं। मरना कोई नहीं चाहता।<sup>1</sup> क्योंकि एक गन्दगी के कीड़े और स्वर्ग के अधिपति—इन्द्र दोनों के हृदय में जीवन की आकांक्षा और मृत्यु का भय समान है।<sup>2</sup> अतः सबको अपना जीवन प्यारा है।<sup>3</sup> इसीलिए सोते-उठते, चलते-फिरते तथा छोटे-बड़े प्रत्येक कार्य को करते हुए यह भावना हर व्यक्ति की होनी चाहिए कि जब मेरी आत्मा सुख चाहती है तो दूसरों को भी सुख भोगने का अधिकार है। जब मुझे दुःख प्यारा नहीं है तो संसार के अन्य जीवों को कहीं से प्यारा होगा?<sup>4</sup> अतः स्वानुभूति के आधार पर हिंसात्मक प्रवृत्तियों से हमेशा बचकर रहना चाहिए।<sup>5</sup>

कितनी उदात्त भावना है उन महामानवों की। मानवता यहाँ चर्मोत्कर्ष पर पहुँच जाती है। जियो और जीने दो, यह अहिंसा का स्वर्णम-सूत्र उसी सर्वभूतदया

की भावना से प्रसूत है, जहाँ जीव के सारे भेद समाप्त हो जाते हैं। अन्य संस्कृतियों के करुणा की भावना अवश्य है, प्रसंगवश हिंसा-विरोधात्मक उपदेश भी दिये गये हैं, किन्तु उनमें जैनधर्म की इस उदारता की मिशाल पाना कठिन है। इसलिए शायद जीवदया की क्रिया को सबसे श्रेष्ठ एवं चिन्तामणि रत्न के समान फल देने वाली मानी गयी है।<sup>16</sup> तथा अहिंसा के माहात्म्य से मनुष्य चिरजीवी, सौभाग्यशाली, ऐश्वर्यवान्, सुन्दर और यशस्वी होता है, यह स्वीकृत किया गया है।<sup>17</sup>

### अहिंसा-स्वरूप :

अहिंसा क्या है, इस प्रश्न को जैनाचार्यों ने बड़ी सूक्ष्म और सरल विधि से समझाया है। सर्वप्रथम उन्होंने हिंसा का स्वरूप निर्धारित किया। तदुपरांत उससे विरत होने की क्रिया को अहिंसा का नाम दिया। बात ठीक भी है, जब तक हम वस्तु के स्वरूप को न समझ लें, उससे सम्भावित हानि-लाभ से अवगत न हो जायें तब तक उसे छोड़ने का प्रश्न ही कहाँ उठता है।

हिंसा का सर्वांगपूर्ण लक्षण अमृतचन्द्राचार्य के इस कथन में निहित है—कषाय के वशीभूत होकर द्रव्यरूप या भावरूप प्राणों का घात करना हिंसा है।<sup>18</sup> यह लक्षण समन्तभद्राचार्य द्वारा प्रणीत अहिंसाणुव्रत के लक्षण जैसा ही परिपूर्ण है। सर्वार्थसिद्धि एवं तत्त्वार्थ-राजवार्तिक में इसी का समर्थन किया गया है। अहिंसा और हिंसा का जैसा वर्णन पुरुषार्थ-सिद्धयुपाय में है वैसा पूर्व या उत्तर के ग्रन्थों में नहीं मिलता है।<sup>19</sup>

उपर्युक्त हिंसा के लक्षण में मनकी दुष्प्रवृत्ति पर अधिक जोर दिया गया है। क्योंकि अन्तस् की कलुषता ही हिंसा को जन्म देती है। इसी बात को आचार्य उमास्वामी ने इस कथन से स्पष्ट किया है—

प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा।<sup>10</sup>

प्रमादवश प्राणों के घात करने को हिंसा कहते हैं। प्रमत्त शब्द मन की कलुषता, अज्ञानता, असावधानी के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। गृहस्थ जीवन में मनुष्य नाना क्रियाओं का प्रतिपादन करता है। किन्तु सभी क्रियाएँ सावधानी और संयम-पूर्वक नहीं होतीं। अनेक कार्यों को करते हुए मन में कषायभाव, कटुता उत्पन्न हो जाती है। इससे आत्मा की निर्मलता धुंधली पड़ जाती है। भावनाओं में विकार उत्पन्न हो जाते हैं। इन्हीं दुष्परिणामों से युक्त हो कोई कार्य करना हिंसा है। क्योंकि दुष्परिणामी व्यक्ति के द्वारा भले दूसरे प्राणियों का घात न हो लेकिन उसकी आत्मा का घात स्वयमेव हो जाता है। इसी अर्थ में वह हिंसक है।<sup>11</sup> क्योंकि किसी दूसरे से किसी दूसरे का प्राण-घात सम्भव ही नहीं है।<sup>12</sup>

पं० आशाधरजी ने हिंसा की व्याख्या और सरल शब्दों में की है। उनका कथन है—संकल्पपूर्वक व्यक्ति को हिंसात्मक कार्य नहीं करना चाहिए। उन सब कार्यों व साधनों को, जिनसे शरीर द्वारा हिंसा, हिंसा की प्रेरणा व अनुमोदन सम्भव हो, यत्नपूर्वक व्यक्ति को छोड़ देना चाहिए। यदि वह गृहस्थजीवन में उन कार्यों को नहीं छोड़ सकता तो उसे प्रत्येक कार्य को करते समय सतर्क और सावधान रहना चाहिए।<sup>13</sup> देवता, अतिथि, मन्त्र, औषधि आदि के निमित्त तथा अन्ध-विश्वास और धर्म के नाम पर संकल्पपूर्वक प्राणियों का घात नहीं करना चाहिए।<sup>14</sup> क्योंकि अयत्नाचार पूर्वक की गई क्रिया में जीव मरे या न मरे हिंसा हो ही जाती है। जब कि यत्नाचार से कार्य कर रहे व्यक्ति को प्राणिवध हो जाने पर भी हिंसक नहीं कहा जाता।<sup>15</sup> वस्तुतः हिंसा करने और हिंसा हो जाने में बहुत अन्तर है। निष्कर्ष यह, संकल्प-पूर्वक किया गया प्राणियों का घात हिंसा है, और उनकी रक्षा एवं बचाव करना अहिंसा।<sup>16</sup>

अहिंसा के प्रतिपादन में जैन-साहित्य में बहुत कुछ कहा गया है। इसमें प्रधानतः प्राणीमात्र के कल्याण की भावना निहित है। अन्य धर्म व संस्कृतियाँ अहिंसा का घोष करती हुई भी हिंसात्मक कार्यों में अनेक बहानों से प्रवृत्त देखी जा सकती है। किन्तु जैन संस्कृति जो कहती है, वही व्यवहार में उतारने की कोशिश करती है। यही कारण है, जैनाचार्यों ने समय की गतिविधि को देखते हुए अनेक वैदिक अनुष्ठानों व हिंसात्मक कार्यों का विरोध किया है। यह विरोध जैन धर्म में सर्वभूतदया की भावना का ही प्रतिफल है।

अहिंसा को जैनधर्म में व्रत माना गया है। वस्तुतः हिंसात्मक कार्यों से विरत होने में कठिनता का अनुभव होने से ही अहिंसा को व्रत कह दिया गया है, अन्यथा करुणा, अहिंसा तो दैनिक कार्यों एवं सुखी-जीवन का एक आवश्यक अंग है : वह मानव की स्वाभाविक पराणति है। उसे व्रत मानकर चलना उससे दूर होना है। अहिंसा तो भावों की शक्ति है। आत्मा की निर्मलता एवं अज्ञान का विनाश है।

कोई भी व्यक्ति अपने दैनिक जीवन में अज्ञानक परितर्तन लाकर अहिंसा को उत्पन्न नहीं कर सकता। अहिंसा का उत्पन्न होना तो आत्मा में परिवर्तन होने के साथ होता है। आत्मा के परिवर्तन का अर्थ है, उसे पहिचान लेना। यह पहिचान ही निजको जानना है, सारे विश्व को जानना है। जब व्यक्ति इस अवस्था पर पहुँच जाता है तो समस्त विश्व के जीवों के दुख का स्पन्दन उसकी आत्मा में होने लगता है। यह करुणामय स्पन्दन होते ही हिंसा स्वयं तिरोहित हो जाती है। उसे हटाने के लिए कोई अलग से योजना नहीं करनी पड़ती। अहिंसा उत्पन्न हो जाती है।

हिंसा की निवृत्ति और अहिंसा के प्रसार के लिए जैन धर्म में गृहस्थों के अनेक व्रत-नियमों को पालन करने का उपदेश दिया गया है। प्रत्येक कार्य को साव-

धानी पूर्वरु करने एवं प्रत्येक वस्तु को देख-शोधकर उपयोग में लाने का विधान गृहस्थ के लिए मात्र धार्मिक ही नहीं ब्यवहारिक भी है, <sup>17</sup> जीवों के घात के भय से जैन गृहस्थ अनेक व्यर्थ की क्रियाओं से मुक्ति पा जाता है। प्रत्येक वस्तु को देख-भालकर काम में लाने की आदत डालने से मनुष्य हिंसा से ही नहीं बचता, किन्तु वह बहुत-सी मुसीबतों से बच जाता है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए आचार्यों ने अनर्थदण्डव्रतों का विधान किया है। रात्रिभोजन त्याग का विधान भी इसी प्रसंग में है।<sup>18</sup> इस अवलोकन से स्पष्ट है कि जैन धर्म की अहिंसा मात्र धार्मिक न हो कर ब्यवहारिक भी है।

अहिंसा के विषय में जिज्ञासुओं की ओर से जहाँ अनेक व्यर्थ के प्रश्न उठाने गये वहाँ एक आवश्यक और जीवित प्रश्न यह भी है कि जैन धर्म के अनुसार यह संसार अनेक छोटे-छोटे जीव-जन्तुओं से खचा-खच मरा है। दैनिक जीवन से सम्बन्धित कोई भी ऐसी क्रिया नहीं है जिसमें हिंसा न होती हो।<sup>19</sup> चलने-फिरने, खाने-पीने एवं बोलने आदि साधारण क्रियाओं में भी जीवों का घात होता है। इस स्थिति में अहिंसा की साधना कैसे पूरी होगी? हम निष्क्रिय होकर तो बैठ नहीं सकते हैं। गृहस्थ जीवन अनेक परिग्रहों से युक्त है, जिसमें दिनरात बहुत से आरम्भ करने पड़ते हैं। अतः अहिंसा की रक्षा वहाँ कैसे सम्भव है?

### अहिंसा सम्बन्धी समस्याएं और समाधान :

जैनाचार्य संसार से विरत अवश्य थे, किन्तु उन्होंने सामान्य जीवन से सम्बन्धित इन प्रश्नों का समाधान भी प्रस्तुत किया है। संसार में सभी प्राणी अपनी-अपनी आयु लेकर आते हैं। नित्य मरते और उत्पन्न होते हैं। अतः जीवों के मरने में सावधान व्यक्ति यदि कारण होता है तो वह हिंसक नहीं कहा जा सकता। और न उसके अणुव्रती अहिंसक होने में कोई दोष आता है। क्योंकि उसके अन्तस् की भावना पवित्र एवं दया से आद्र है। यहाँ हमें हिंसा-अहिंसा को भावों पर ही आधारित मानना पड़ेगा। यदि ऐसा न मानें तो एक भी व्यक्ति का मोक्ष और बन्धन हो।<sup>20</sup> तथा शुद्ध भाव वाले व्यक्ति को भी यदि केवल द्रव्य हिंसा के कारण हिंसक मान लिया जाय तो एक व्यक्ति भी इस संसार में अहिंसक नहीं कहला पायेगा।<sup>21</sup> अतः शुभ परिणामों के साथ संसार में सक्रिय रहते हुए अहिंसा की साधना की जा सकती है।

यह बात सही है—गृहस्थ-जीवन परिग्रहों का भण्डार है। किन्तु उसकी भी सीमा निर्धारित की जा सकती है। तृष्णा को कम करके यदि आवश्यक और अनि-वार्य वस्तुओं का संग्रह किया जाय तथा उनके उपयोग के समय सन्तोष से काम लिया जाय तो हिंसा की अधिकता होने का कोई कारण नहीं दिखता। अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रह से सन्तुष्ट व्यक्ति अहिंसक है।<sup>22</sup>



इसी से मिलता-जुलता एक प्रश्न और उठा—

जले जन्तुः स्थले जन्तुराकाशे जन्तुरेव च ।

जन्तुमालाकुले लोके कथं भिक्षुरहिंसकः ॥

इस प्रश्न का भी समुचित समाधान प्रस्तुत है। संसार में जितने सूक्ष्म जीव हैं वे किसी के द्वारा पीड़ित नहीं होते और जो स्थूल हैं उनकी यथाशक्ति रक्षा की जाती है। अतः संयमी व्यक्ति के अहिंसक होने में कोई बाधा नहीं आती।<sup>23</sup> जीवों के मरने न मरने पर कोई पाप-पुण्य नहीं होता। वह तो शुभ-अशुभ परिणामों एवं भावनाओं पर आधारित है।<sup>24</sup> सब कार्यों में भावों की निर्मलता एवं अन्तम् की पवित्रता आवश्यक है। यदि भावना को प्रधानता न दी जाय तो एक ही व्यक्ति द्वारा अपनी प्रियतमा और पुत्री के साथ की गई चुम्बन क्रिया में कोई अन्तर ही न रह जाय।<sup>25</sup>

आचार्य सोमदेव ने इसी बात को धीवर और कृषक का उदाहरण देकर स्पष्ट किया है। प्राणि-घात का कार्य दोनों करते हैं। किन्तु धीवर सुबह से शाम तक नदी किनारे बैठकर यदि खाली हाथ भी घर वापिस लौटता है तो वह हिंसक है। जब कि दिनभर में अनन्त स्थावर जन्तुओं का घातकर लौटने वाला किसान हिंसक नहीं कहा जाता।<sup>26</sup> यहाँ दोनों के संकल्प और भावों के अन्तर की ही विशेषता है। अतः ऐसा कोई कारण नहीं है कि गृहस्थ जीवन में अहिंसा को न उतारा जा सके। मानव हर क्षण और हर अवस्था में अहिंसक रह सकता है, उसमें मनोबल और अन्तस् की निर्मलता चाहिए।

एक और ज्वलन्त प्रश्न अहिंसा के सिद्धान्त के विषय में अब उठने लगा है। वह यह कि यदि अहिंसा के सिद्धान्त पर हम चलें तो आज विश्व में जो चारों ओर युद्ध का भयावह वातावरण व्याप्त है, उससे कैसे रक्षित हो सकेंगे? क्योंकि युद्ध में भाव तो रोष के होते हैं और शत्रु को मारने का संकल्प भी करना पड़ता है। अतः इस संकट से बचने के लिए अहिंसक के सामने दो ही रास्ते हैं, या तो वह चुपचाप शत्रु का वार सहता जाये अथवा अहिंसा को किनारे रख शस्त्र उठा लड़ने लग जाय। क्या कोई दोनों पक्ष के बचाव का भी रास्ता है?

प्रश्न जितना जटिल और सम-सामयिक है, समाधान उतना ही सरल और न्यायसंगत। जैन संस्कृति का इतिहास यदि हम पलटें तो पायेंगे—अनेक जैन राजा ऐसे हुए हैं जिन्होंने अनेक लड़ाइयां लड़ी है। शत्रु के आक्रमण से अपने को भरसक बचाया है। उसके दांत खट्टे किये हैं। चन्द्रगुप्त, सम्राट खारवेल, सेनापति चामुण्डराय आदि वीर योद्धा भारतीय इतिहास के उज्ज्वल रत्न हैं।<sup>97</sup> अतः अहिंसा यह कभी नहीं कहती कि दूसरे का अकारण चांटा खाकर तुम चुप हो जाओ। कोशिश

यह करो कि उसका दुबारा फिर हाथ न उठे। अहिंसा सिर्फ आक्रमणशात्मक हिंसा का विरोध करती है, रक्षान्मक हिंसा का त्याग नहीं।

जैनागमों में एक अहिंसक गृहस्थ के लिए यह विधान भी है कि यदि उसके धर्म, जाति, व देश पर कोई संकट आ पड़ा हो तो उसे चाहिए कि वह तन्त्र, मन्त्र, बल, सैन्य आदि शक्तियों द्वारा उसे दूर करने का प्रयत्न करे। एक देशवासी का राष्ट्र-रक्षा के सिवाय और क्या धर्म हो सकता है ? अतः यदि युद्ध अनिवार्य हो तो उससे विमुख होना अहिंसा नहीं, कायरता है। ऐसे युद्ध में रत होकर अहिंसक अपना कर्तव्य ही करता है। क्योंकि हर प्राणी को जब स्वतन्त्र जीने का अधिकार है तो उसमें बाधा देनेवाला क्षम्य नहीं कहा जा सकता। भले वह अपना पुत्र हो या शत्रु हो। जैनाचार्य दोषों के अनुसार दोनों को दण्ड देने का विधान करते हैं।<sup>29</sup> अतः अहिंसा का क्षेत्र इतना व्यापक है कि उसमें कोई विरोध उपस्थित नहीं होता। उससे कायरता नहीं, निर्भयता का स्रोत प्रवाहित होता है।

**अहिंसा की उपलब्धियाँ :**

जैन साहित्य व धर्म में अहिंसा के विविध रूपों के साथ एक बात भी देखने को मिलती है कि अहिंसा का मूल स्रोत खान-पान की शुद्धि की ओर अधिक प्रभावित हुआ है। हिंसा से बचने के लिए खान-पान में संयम रखने को अधिक प्रेरित किया गया है उतना राग, द्वेष, काम, क्रोध, जो भावहिंसा के ही रूपान्तर हैं, के विषय में नहीं। इसके मूल में शायद यही भावना रही हो कि यदि व्यक्ति का आचार-व्यवहार स्वच्छ और संयत होगा तो उसकी आत्मा एवं भावना पवित्र रहेगी। किन्तु ऐसा हुआ बहुत कम मात्रा में है। आज अहिंसा के पुजारियों जैनों के खान-पान में जितनी शुद्धि दिखाई देती है, मन में उतनी पवित्रता और व्यवहार में वैसी अहिंसा के दर्शन नहीं होते। अतः यदि व्यक्ति का अन्तस् पवित्र हो, सरल हो तो उसके व्यवहार व खान-पान में पवित्रता स्वयं अपने-आप आ जायेगी। जिसका अन्तर प्रकाशित हो, उसके बाहर अंधेरा टिकेगा कैसे ?

अहिंसा के अतिचारों में जो पशुओं के छेदन और ताड़न की बात कही गई है वह नया तथ्य उपस्थित करती है। वह यह कि, जैनाचार्यों का हृदय मूक पशुओं की वेदना से अधिक अनुप्राणित था। यदि ऐसा न होता तो वे अहिंसा के अतिचारों में खान-पान की त्रुटियों को गिना देते। जबकि उन्होंने प्राणीमात्र के कल्याण की बात कही है। यही भावना आगे चल कर बैदिक यज्ञों की हिंसा का डटकर विरोध करती है। प्राणीमात्र को अभय प्रदान करती है। जैन संस्कृति के वरिष्ठ विधायकों ने उद्घोष किया—यदि सचमुच, तुम निर्भय रहना चाहते हो, तो दूसरों को तुम भी अभय देने वाले बनो, निर्भय बनाओ। इस अनित्य नश्वर संसार में चार दिन की जिन्दगी पाकर क्यों हिंसा में डूबे हो ?<sup>30</sup>

यह उसी का प्रतिफल है कि वैदिक युग के क्रियाकाण्डों और आज के हिन्दू धर्म अनुष्ठानों में जमीन आसमान का अन्तर आ गया है। भारतीय समाज के विकास में अहिंसा का यह कम योगदान नहीं है।

अहिंसा समाजवाद और साम्यवाद की नींव है। लोग आज देश में समाजवाद-स्थापन की बात करते हैं। अहिंसा के उस महान् उद्घोषक ने आज से हजारों वर्ष पहिले समस्त विश्व में समाजवाद स्थापित कर दिया था। विश्व के समस्त प्राणियों को समान मानना, न केवल मनुष्यों को, इससे भी बड़ा कोई साम्यवाद होगा? अहिंसा महाप्रदीप की किरणों विकरित हो उद्घोष करती है, उस महामानव की वारसी गूँजती है—जो तुम अपने लिए चाहते हो, दूसरों के लिए, समूचे विश्व के लिए भी चाहो। और जो तुम अपने लिए नहीं चाहते, उसे दूसरों के लिए भी मत चाहो, मत करो।<sup>31</sup> क्योंकि एक चेतना की ही धारा सबके अन्दर प्रवाहित होती है।<sup>32</sup> अतः सबके साथ समता का व्यवहार करो, यही आचरण सर्वश्रेष्ठ है।<sup>33</sup> इससे तुम्हारा जीवन विकार वासनाओं से मुक्त होता चला जायेगा और निष्पाप हो जायेगा।<sup>34</sup>

जैनधर्म की यही उदार दृष्टि अहिंसा को इतना व्यापक बना देती है कि उसे समूचे विश्व के साथ सम्बन्ध स्थापित करने में देर नहीं लगेगी। क्योंकि उसने संसार से परायेपन को हटाकर अपनत्व जोड़ रखा है। संसार में परायेपन का ही अर्थ है—दुःख तथा हिंसा होना। और अपनत्व का अर्थ है—सुख एवं अहिंसा होना। क्योंकि जब समूचा विश्व ही व्यक्ति का हो जाता है तो कौन उसे सत्य एवं और सुन्दर नहीं बनाना चाहेगा? अतः प्रत्येक प्रयत्नशील मानव को दुःख के परिहार और सुख के स्वीकार के लिए जैन संस्कृति की मूल देन अहिंसा को अपने जीवन में उतारना होगा। इस मंत्रमय जीवन से संतप्त मानव को अहिंसा की सान्ध्र और शीतल छाया में ही शान्ति मिल सकेगी, अन्यत्र नहीं।

### सन्दर्भ

1. सब्बे जीवा वि इच्छन्ति जीविउं न मरिज्जिउं ।
2. अग्घेममध्ये कीटस्य, सुरेन्द्रस्य मुरालये ।  
समाना, जीविताकांक्षा, समं मृत्युभयोर्द्वयोः ॥ —आचार्य हेमचन्द्र
3. सब्बेसि जीवियं पियं —आचारांगसूत्र १-२, ६२-६३ ।
4. जह मम न पियं दुक्खं, जाणिय एवमेव सब्बजीवाणं ।
5. स्वीकीयं जीवितं पट्टसर्वंस्य प्राणिनः प्रियम् ।  
तद्वदेतत्परस्यापि ततो हिंसा परित्यजेत् ॥  
—उपासकाध्ययन कल्प 24 श्लोक 292, पद्मपुराण पर्व 14, श्लोक 186

6. एकाजीवदयेकत्र परत्र सकलः क्रिया ।  
परं फलं तु पूर्वत्र कृषेचिन्तामणिरिव ॥ —361 वही
7. आयुष्मान्नुभगः श्रीमान्सुरूपः कीर्तिमान्नरः ।  
अहिंसाव्रतमाहात्म्यादेकस्मादेव जायते ॥362॥  
—उपासकाध्ययन कल्प 26
8. यत्खलु कषाययोगात्प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम् ।  
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥  
—पुरुषार्थ० श्लोक 43
9. उपासकाध्ययन-सम्पादक की प्रस्तावना पृष्ठ-68-69
10. तत्त्वार्थसूत्र 13
11. स्वयमेवात्मनात्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान् ।  
पूर्वं प्राण्यन्तराणां तु पश्चात्स्याद्वा न वा वधः ॥
12. समयसार, गाथा 262 की टीका ।
13. सागारधर्मांशुत, अध्याय 4, श्लोक 8, 9, 10
14. देवतातिथिप्रीत्यर्थं मन्त्रोषधिभयायवा ।  
न हिंसाः प्राणिनः सर्वे अहिंसानाम सत द्रवत् ॥ —बरांग० 15, 112,  
—अमितगतिश्रावकाचार परि० 6; उपासकाध्ययन कल्प 2,
15. मरदु व जियदु व जीवो अमदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा ।  
पयदस्स णत्थि बन्धो हिंसामेत्तेण समिदस्स ॥
16. उपासकाध्ययन-कल्प 26, श्लोक 318
17. गृहकार्याणि सर्वाणि दृष्टिपूतानि कारयेत् ।  
द्रवद्रव्याणि सर्वाणि पटपूतानि योजयेत् ॥ —उपासकाध्ययन  
कल्प 26 श्लोक 321
18. निशायामशनं हेयमहिंसाव्रतवृद्धये । —प्रबोधसार पृष्ठ 84 ।  
मूलव्रतविशुद्धयर्थं यमार्थपरमार्थतः ॥ —सागारधर्मां अ० 4, श्लोक 24 ।
19. सा क्रिया कापि नास्तीह यस्यां न विद्यते हिंसा । —उपासकाध्ययन
20. त्रावकं साधनी बन्ध मोक्षा० । —सागारधर्मां अ. 4, श्लोक 23 ।
21. जई सुद्धस्स य बंधो होहहि बहिरयवत्थुजोएण ।  
एत्थि दु अहिंसगाणामवाउ-कायादिवधहेदु ॥
22. सन्तोषपोषता यः स्यादल्पारम्भपरिग्रहः ।  
माकमुद्दयेकसके सावहिंसागुव्रतं भवेत् ॥—आचार्य समन्तभद्र

23. सूक्ष्मा न प्रतिरीडयन्ते प्राणिनः स्थूलमूर्त्तयः ।  
ये शक्यास्ते विवज्यन्ते का हिंसा संयतात्मनः ॥
24. मृतेऽपि न भवेत् पापमृतेऽपि भवेद् ध्रुवम् ।  
पापधर्मविधाने हि स्वान्तं हेतु शुभाशुभम् ॥ —प्रबोधसार ।
25. भावशुद्धिमनुष्याणां विज्ञेया सर्वकर्मसु ।  
अन्यथा चुम्ब्यते कान्ता भावेन दुहितान्यथा ॥—सुभाषितावली पृ० 493
26. आरम्भेऽपि मदा हिंसा सुधीः सांकल्पकीयजेत् ।  
धनतोपि ऋषकादुच्चैःपापोऽध्यनन्नपि धीवरः ॥  
—सागारधर्मांशुत अ० 2, श्लोक 22 ।
27. जैनधर्म— पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, पृ. 182 ।
28. यद्वा न आत्ममामथर्यं यावन्मंत्रासिकोशकम् ।  
तावद् द्रष्टुं च श्रोतुं च तद्वाचां सहते न सः ॥—पंचाध्यायी, श्लोक 813 ।
29. दण्डो हि केवलो लोकमिमं चामुं च रक्षति ।  
राजा शत्रौ च मित्रे च यथाक्षौषं समं घृतः ॥ —सागारधर्मा० अ. 4, श्लोक5।
30. अभ्रमो पत्थिजा तुभं अभयदाया भवाहि य ।  
आणिते जीव-लोगम्मि, किं हिंसाए पसज्जसि ॥ —उत्तराध्ययनसूत्र 18-11।
31. जं इच्छसि अप्पणतो, जं च न इच्छसि अप्पणतो ।  
तं इच्छ परस्स वि मा वा एत्तियगं जिणसासणयं ॥ —वृहत्कल्प भाष्य ।
32. एगे आया-ठाणांगसूत्र 1-1
33. सर्वसत्त्वेषु हि समता सर्वाचरणानां परमाचरणम्,  
—नीतिवाक्यामृतम्, आचार्यं सोमदेव ।
34. पिहिंसासवस्स दंतस्स पाब-कम्मं न बंधइ । —दर्शवेका०, 4/9/

□□□

## अपरिग्रह के नये क्षितिज

भौतिकवाद के इस युग में आध्यात्म की चर्चा ने जिस ढंग से जोर पकड़ा है उससे प्रतीत होता है कि मानव को जिस संतोष व सुख की तलाश है, वह धन वैभव में नहीं है। पाश्चात्य देशों के समृद्ध जीवन ने इसे प्रमाणित कर दिया है। भारतीय मनीषा हजारों वर्षों से भौतिकता के दुष्परिणामों को प्रकट करती आ रही है। फिर भी मनुष्य के पास अपार परिग्रह है। उसके प्रति तृष्णा है। साथ ही परिग्रह से प्राप्त आन्तरिक क्लेश व पीड़ा के प्रति छटपटाहट भी। अतः स्वाभाविक हो गया है—अपरिग्रह के मार्ग को खोजना। उस दिशा में आगे बढ़ना।

भारतीय धर्म दर्शन में तृष्णा से मुक्ति एवं त्याग की भावना आदि का अनक्र ग्रन्थों में प्रतिपादन है। किन्तु अपरिग्रह के स्वरूप एवं उसके परिणामों का सूक्ष्म विवेचन जैन ग्रन्थों में ही अधिक हुआ है। पाश्वनाथ के चतुर्याम-विवेचन से लेकर पं० आशाधर तक के श्रावकाचार ग्रन्थों में पांच व्रतों के अन्तर्गत परिग्रह-परिमाण व्रत की सूक्ष्म व्याख्या की गई है। उस सबका विवेचन यहाँ प्रतिपाद्य नहीं है। मूल बात इतनी है कि जैन गृहस्थ अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ अपरिग्रह व्रत को भी जीवन में उतारे। वस्तुतः यह पांचवां व्रत कसौटी है श्रावक व साधु के लिए। यदि वह अहिंसा आदि व्रतों के पालन में प्रामाणिक रहा है तो वह परिग्रही हो नहीं सकता। और यदि वह परिग्रही है तो अहिंसा आदि व्रत उससे सधे नहीं हैं। अपरिग्रह के इस दर्पण में आज के समाज का मुखोटा दर्शनीय है।

परिग्रह की सूक्ष्म परिभाषा तत्त्वार्थसूत्र में दी गयी है—“मूर्च्छा परिग्रहः।” अर्थात् भौतिक वस्तुओं के प्रति तृष्णा व ममत्व का भाव रखना मूर्च्छा है। इसी बात को प्रश्नव्याकरणसूत्र आदि ग्रन्थों में विस्तार दिया गया है। अन्तरंग परिग्रह और बाह्य-परिग्रह की बात कही गयी है। आत्मा के निज गुणों को छोड़कर क्रोध लोभ आदि पर भावों को ग्रहण करना अन्तरंग परिग्रह तथा ममत्व भाव से धन, धान्य आदि भौतिक वस्तुओं का संग्रह करना बाह्य-परिग्रह है। शास्त्रों में परिग्रह को एक महावृक्ष कहा गया है। तृष्णा, आकांक्षा आदि जिसकी जड़ें तथा छल-कपट,

कामभोग आदि शाखाएं व फल हैं। परिग्रह के तीस नामों का उल्लेख जैन ग्रन्थों में है, जो उसके स्वरूप के विभिन्न आयामों को प्रकट करते हैं। वस्तुतः परिग्रह में समस्त विश्व एवं व्यक्ति का सम्पूर्ण मनोलोक समाहित है। अपरिग्रह में वह इन दोनों से क्रमशः निलिप्त हो कर आत्मा स्वरूप मात्र रह जाता है। जैन दर्शन की दृष्टि से आत्माज्ञान की यह दशा ही चरम उपलब्धि है।

प्रश्न यह है कि जिस परम्परा के चिन्तक परिग्रह से सर्वथा निलिप्त होकर विचरे, जिनके उपदेशों में सबसे सूक्ष्म व्याख्या परिग्रह के दुष्परिणामों की की गयी, उसी परम्परा के अनुयायियों ने परिग्रह को इतना क्यों पकड़ रखा है ? भौतिक समृद्धि के कर्णधारों में जैन समाज के श्रावक अग्रणी क्यों हैं ? भगवान् महावीर के समय में भी श्रेष्ठीजन थे। उनके बाद भी जैन धर्म में सार्थवाहों की कमी नहीं रही। मध्य युग के शाह और साहूकार प्रसिद्ध हैं। वर्तमान युग में भी जैन धर्म के श्रीमन्तो की कमी नहीं है। ढाई हजार वर्षों के इतिहास में देश की कला, शिक्षा व संस्कृति इन श्रेष्ठीजनों के आर्थिक अनुदान से संरक्षित व पल्लवित हुई है। किन्तु इस वर्ग द्वारा संचित सम्पत्ति से पीड़ित मानवता का भी कोई इतिहास है क्या ? इनके अन्तर्द्वन्द्व और मानसिक पीड़ा का लेखा-जोखा किया है किसी ने ? भौतिक समृद्धि की नश्वरता का आठो पहर व्याख्यान सुनते हुए भी परिग्रह के पीछे यह दीवानगी क्यों है ? कौन है इसका उत्तरदायी ? इन प्रश्नों के उत्तर खोजने होंगे।

भारतीय समाज की संरचना की दृष्टि से देखें तो महावीर के युग तक वर्गगत व्यवस्था प्रचलित हो चुकी थी। महावीर के उपदेश सभी के लिए थे। किन्तु अहिंसा की उनमें सर्वाधिक प्रमुखता होने से कृषि और युद्ध वृत्ति को अपनाते वाले वर्ग ने जैनधर्म को अपना कुलधर्म बनाने में अधिक उत्साह नहीं दिखाया। व्यापार व वाणिज्य में हिंसा का सीधा सम्बन्ध नहीं था। अतः जैनधर्म वैश्यवर्ग के लिए अधिक अनुकूल प्रतीत हुआ। और वह क्रमशः श्रेष्ठीजनों का धर्म बनता गया। इस तरह श्रीमत्तों के साथ व्यापारिक समृद्धि और जैनधर्म दोनों जुड़े रहे। दोनों द्वारा विभिन्न प्रकार के परिग्रह-संग्रह की अपरोक्ष स्वीकृति मिलती रही।

श्रेष्ठीजनों के साथ जैनधर्म का घनिष्ट सम्बन्ध होने से यह दिनोंदिन महंगा होता गया। मूर्ति-प्रतिष्ठा, मन्दिर-निर्माण, दान की अपार महिमा, आदि धार्मिक-कार्य बिना धन के सम्भव नहीं रह गये। साथ ही इन धार्मिक कार्यों को करने से स्वर्ग की अपार सम्पदा की प्राप्ति का प्रलोभन भी जुड़ गया। व्यापार बुद्धि वाले श्रावक को यह सोदा सस्ता जान पड़ा। वह अपार धन अर्जित करने लगा। उसमें से कुछ खर्च कर देने से स्वर्ग की सम्पदा भी सुरक्षित होने लगी। साथ ही उसे वर्तमान जीवन में महान् दानी व धार्मिक कहा जाने लगा। इस तरह परिग्रह और धर्म एक दूसरे के बराबर आकर खड़े हो गये। महावीर के चिन्तन से दोनों परे हट गये।

परिग्रह-संचय का तीसरा कारण मनोवैज्ञानिक है। हर व्यक्ति सुरक्षा में जीना चाहता है। सुरक्षा निर्भयता से आती है और निर्भयता पूर्णता से। व्यक्ति अपने शरीर की क्षमता को पहिचानता है। उसे अंगरक्षक चाहिए, सवारी चाहिए, घूप एवं वर्षा से बचाने के लिए महल चाहिए, और वे सब चीजें चाहिए जो शरीर की कोमलता को बनाए रखें। इसीलिए इस जगत् में अनेक वस्तुओं का संग्रह है। शरीर की अपूर्णता वस्तुओं से पूगी की जाती है। शरीर के सुख का जितना अधिक ध्यान है, वह उतनी ही अधिक वस्तुओं के संग्रह का पक्षपाती है। इन वस्तुओं के सामीप्य से व्यक्ति निर्भय बनना चाहता है। धर्म, दान-पुण्य उसके शरीर को स्वर्ग की सम्पदा प्रदान करेंगे इसलिए उसने धर्म को भी वस्तुओं की तरह संग्रह कर लिया है। वस्तुओं को उसने अपने महल में संजोया है। धर्म को अपने बनाये हुए मन्दिर में रख दिया है। इस तरह इम लोक और परलोक दोनों जगह परिग्रही अपनी सुरक्षा का इंतजाम करके चलता है।

आधुनिक युग में परिग्रही होने के कुछ और कारण विकसित हो गये हैं। भ्रम के वैज्ञानिक उपकरण बढ़े हैं। अतः उनसे सुरक्षित होने के साधन भी खोजे गये हैं। वर्तमान से असंतोष एवं भविष्य के प्रति निराशा ने व्यक्ति को अधिक परिग्रही बनाया है। पहले स्वर्ग के सुख के प्रति आस्था होने से व्यक्ति इस लोक में अधिक सुखी होने का प्रयत्न नहीं करता था। अब वह भ्रम टूट गया। अतः साधन सम्पन्न व्यक्ति यहीं स्वर्ग बनाना चाहता है। स्वर्ग के सुखों के लिए रत्न, अम्बरकाये आदि चाहिए सो व्यक्ति जिस किसी तरह से उन्हें जुटा रहा है। और उस व्यय को रोक रहा है जो वह धर्म पर खर्च करता था। पहले व्यापार और धर्म साथ-साथ थे, अब धर्म में भी व्यापार प्रारम्भ हो गया है।

परिग्रह के प्रति इस आसक्ति के विकसित होने में आज की युवा पीढ़ी भी एक कारण है। पहले व्यक्ति अपने परिवार व सम्पत्ति के प्रति इसलिए ममत्व को कम कर देता था कि उसे विश्वास होता था कि उसके परिवार व व्यापार को उसकी सन्तान सम्हाल लेगी। वृद्धावस्था में वह निःसंग होकर धर्म-ध्यान कर सकेगा। कारण कुछ भी हों किन्तु परिवार के मुखिया को आज की युवापीढ़ी में यह विश्वास नहीं रहा। वह अपने लिए तो परिग्रह करता ही है, पुत्र में ममत्व होने से उसके लिए भी जोड़कर रख जाना चाहता है। न केवल पुत्र अपितु दामादों का पोषण भी पुत्री के पिता के उपर आ गया है। ऐसी स्थिति में यदि वह परिग्रह न करे तो करे क्या? समाज में तो उसे रहना है।

वर्तमान सामाजिक मूल्यों से भी अपरिग्रह-वृत्ति प्रभावित हुई है। चक्रवर्तियों व सामन्तों का वैभव साहित्य में पढ़ते-पढ़ते हमारी आँखें उससे चौंधिया गयीं हैं। समाज में हमने उसे प्रतिष्ठा देनी प्रारम्भ कर दी है जो वैभवसम्पन्न है। नैतिक-मूल्यों



के घनी हमारी उंगलियों पर नहीं चढ़ते। युवापीढी के कलाकारों, चरित्रवान् युवकों व चिन्तनशील व्यक्तियों की हमें पहिचान नहीं रही। बनावटीपन की इस भीड़ में महावीर का चिन्तन कहीं खो गया है। जीवन-मूल्य को हमने इतना अधिक पकड़ लिया है कि जीव-मूल्य हमारे हाथ से छिटक गया है। और जब जीव का आत्मा का, निर्मलता का मूल्य न रह गया तो जड़ता ही पनपेगी। कीचड़ ही कीचड़ नजर आयेगा।

भगवान् महावीर का चिन्तन यहीं से प्रारम्भ होता है। परिग्रह के इन परिणामों से वे परिचित थे। वे जानते थे कि व्यक्ति जब तक स्वयं का स्वामी नहीं होगा, वस्तुएं उस पर राज्य करेंगी। उसे इतना मूर्च्छित कर देंगी कि वह स्वयं को न पहिचान सके। जिस शरीर को उसने घरोहर के रूप में स्वीकार किया है, उस शरीर की वह स्वयं घरोहर हो जाय इससे बड़ी विडम्बना क्या होगी? अतः महावीर ने आत्मा और शरीर के भेद, विज्ञान से ही अपनी बात प्रारम्भ की है। बिना इसके अहिंसा, अपरिग्रह आदि कुछ फलित नहीं होता। अतः अपरिग्रह की साधना के लिए मूर्च्छा को तोड़ना आवश्यक है।

आधुनिक सन्दर्भ में अपरिग्रही होना कठिन नहीं है। समझ का फेर है। साधन-सम्पन्न व्यक्ति आज हर तरह से पूर्ण होना चाहता है, निर्भय होना चाहता है। और चाहता है कि उसका सुख अपरिमित हो, कभी न समाप्त होने वाला। इस सबके साथ वह धार्मिक भी रहना चाहता है। समाज में प्रतिष्ठित भी। इस सबके लिए उसने दो रास्ते अपनाकर देख लिए। त्याग का और संग्रह का मार्ग। हजारों वर्षों से वह दान करता आ रहा है, करोड़ों का उसने संग्रह भी किया है। किन्तु छोड़ने और बटोरने की इस आपाधापा में उसने जीवन को जिया नहीं। हमेशा उसका कर्तापन, अहं सिर उठाकर खड़ा रहा है। इसीलिए उसकी अन्य उपलब्धियां बौनी रह गयीं। वह जमाखोर, पूँजीपति पाखण्डी न जाने किन-किन नामों से जाना जाता रहा है। अतः अब ये दोनों रूप बदलने होंगे।

सही मार्ग खोजने में महावीर का चिन्तन बहुत उपयोगी है। उन्होंने अहिंसा से अपरिग्रह तक का मार्ग प्रशस्त किया। उनकी पहली शर्त है कि तुम अपना गन्तव्य निश्चित करो। बनावटीपन के रास्ते पर चलना है तो स्वप्न में जीने के अनेक ढंग हैं। और यदि बाहर-भीतर एक-सा रहना है तो आत्मा और शरीर की सही पहिचान कर लो। आत्म-ज्ञान जितना बढ़ता जायेगा, उतने तुम अहिंसक होते जाओगे। जगत् के प्राणियों के अस्तित्व को अपने जैसा स्वीकारने से तुम उनके साथ झूठ नहीं बोल सकते। कपट नहीं कर सकते। शरीर से स्वामित्व मिटते ही चोरी नहीं की जा सकती। क्योंकि तुम्हारी आत्मा के विकास के लिए किसी परायी वस्तु की अपेक्षा नहीं है। सत्य और अस्तेय को जीने वाला व्यक्ति परिग्रह में

प्रवृत्त ही नहीं हो सकता है। किमके लिए वस्तुओं का संग्रह ? आत्मा निर्मयी है। पूर्ण है। सुखी है। फिर परिग्रह का क्या महत्त्व ? यह तो शरीर के ममत्व के त्याग के साथ ही विसर्जित हो गया। यह है, महावीर की दृष्टि में अपरिग्रह का महत्त्व। इसी के लिए है—अणुव्रतों और महाव्रतों की साधना।

प्रश्न हो सकता है कि परिग्रह में आकंठ डूबे रहने से एकाएक आत्म-ज्ञान की समझ कैसे जागृत हो सकती है ? व्यापार-वाणिज्य को अज्ञानक छोड़ देने से देश की अर्थ-व्यवस्था का क्या होगा ? अथवा किमी एक या दो व्यक्तियों के अपरिग्रही हो जाने से शोषण तो समाप्त नहीं होगा ? प्रश्नों की इस भीड़ में महावीर की वाणी हमें सबल प्रदान करती है।

जैनधर्म को कितना ही निवृत्तिमूलक कहा जाय, किन्तु वह प्रवृत्तिमार्ग से अलग नहीं। उसमें केवल वंराग्य की बात नहीं है। समाज के उत्थान की भी व्यवस्था है। स्थानांगसूत्र में दस प्रकार के जिन धर्मों का विवेचन है वे गृहस्थ के सामाजिक दायित्वों को ही पूरा करते हैं। अणुव्रतों का पालन बिना समाज के सम्भव नहीं है। श्रावक जिन गुणों का विकास करता है, उनकी अभिव्यक्ति समाज में ही होती है। अतः महावीर ने अपरिग्रही होने की प्रक्रिया में समाज के अस्तित्व को निररत नहीं किया है।

गृहस्थ जीवन में रहते हुए हिंसा, परिग्रह आदि से बचा नहीं जा सकता, यह ठीक है। किन्तु महावीर का कहना है कि श्रावक अपनी दृष्टि को सही रखे। जो काम वह करे, उसके परिणामों से भली-भाँति परिचित हो। आवश्यकता की उसे सहो पहिचान हो। जीवन-यापन के लिए किन वस्तुओं की आवश्यकता है, उनको प्राप्त करने के क्या साधन हैं तथा उनके उपयोग से दूसरों के हित का कितना नुकसान है आदि बातों को विचार कर वह परिग्रह करने में प्रयुक्त हो तो इससे कम से कम कर्मों का बन्ध उसे होगा। श्रावक के बारह व्रत एवं ग्यारह प्रतिमाएँ आदि का पालन गृहस्थ को इसी निस्पृही वृत्ति का अभ्यास कराता है। इसी से उसके आत्मज्ञान की समझ विकसित होती है।

अपरिग्रह होने के लिए दूसरी बात प्रामाणिक होने की है। उसमें वस्तुओं की मर्यादा नहीं, अपनी मर्यादा करना जरूरी है। सत्य-पालन का अर्थ यह नहीं है कि व्यापारिक गोपनीयता को उजागर करते फिरें। इसका आशय केवल इतना है कि आपने जिस प्रतिशत मुनाफे पर व्यापार करना निश्चित किया है, उसमें खोटा न हो। जिस वस्तु की आप कीमत ले रहे हैं, वह मिलावटी न हो। और अस्तेय का अर्थ है कि आपकी जो व्यापारिक सीमा है उसके बाहर की वस्तु का आपने अनावश्यक संग्रह नहीं किया है। इन अतिचारों से बचते हुए यदि जैन गृहस्थ व्यापार करता है तो वह देश के व्यापार को प्रामाणिक बनायेगा। आवश्यकता और

सामर्थ्य के अनुरूप समृद्ध भी। तब उसकी दुकान और मन्दिर में कोई फरक नहीं होगा। व्यापार और धर्म एक दूसरे पूरक होंगे।

प्रश्न रह जाता है समाज में व्याप्त शोषण व जमाखोरी की प्रवृत्ति को बदलने का। महावीर का चिन्तन इस दिशा में बड़ा संतोषी है। पूरे समाज को बदलने का दिवास्वप्न उसमें कभी नहीं देखा गया। किन्तु व्यक्ति के बदलने का पूरा प्रयत्न किया है। इसलिए महावीर का समाज अशुभ से शुभ की ओर, हेय से उपादेय की ओर जाने में किसी समारोह की प्रतीक्षा नहीं करता। भीड़ का अनुगमन नहीं चाहता। और न ही किसी राजनेता या बड़े व्यक्तित्व के द्वारा उसे उद्घाटन की आवश्यकता होती है। क्योंकि ये सभी मूर्च्छा के कार्य हैं। ममत्व और आकांक्षा के। इसलिए महावीर की दृष्टि से तो कोई भी व्यक्ति, किसी भी स्थिति में बदलाव के लिए आगे आ सकता है। उसके परिवर्तन की रश्मियाँ समाज को प्रभावित करेंगी ही।

आज के भौतिकवादी युग में हमारी स्पर्धा भी जड़ हो गयी है। ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में अन्य देशों के साथ बराबरी के लिए प्रयत्न करना ठीक हो सकता है किन्तु भौतिकता एवं इन देशों के तथा-कथित जीवन-मूल्यों के साथ भारतीय मनीषा को खड़ा करना अपनी परम्परा को ठीक से न समझ पाना है। अध्यात्म के जिन मूल्यों की छाती हमें मिली है, उसका शतांश भी अन्य देशों के पास नहीं है। फिर हम अपने को गरीब व हीन क्यों समझ रहे हैं? रिक्त तो हम उस दिन होंगे जब भौतिक समृद्धि के होते हुए भी हमें अध्यात्म की खोज में भटकना पड़ेगा। कम से कम भगवान् महावीर की परम्परा में तो यह ऋणात्मकता की स्थिति न आने दें। महावीर जो हमें सौंप गये हैं उसमें अपनी सामर्थ्य से कुछ जोड़ें ही। भौतिकता का हमने बहुत व्यापार किया अब कुछ नैतिक मूल्यों की बढ़ोतरी का ही व्यापार सही।



## स्वाध्याय : ज्ञान की कुंजी

वर्तमान युग के बदलते सन्दर्भों में धर्म और दर्शन को संदेह की दृष्टि से देखने की आदत पड़ गयी है। इतना परिवर्तन हुआ है जीने के ढंग और चिन्तन की प्रक्रिया में कि प्राचीन मूल्य अर्थहीन प्रतीत होते हैं। किन्तु वास्तव में ऐसा है क्या? कहीं यह हमारी जिज्ञासा, प्रतिभा और सजगता की कुंठा तो नहीं है? परिश्रम और लगन से पलायन तो नहीं है? गहरायी से सोचना होगा। समाज के हर वर्ग को, व्यवस्था को इसमें सम्मिलित होना होगा। साथ ही खोजनी होंगी प्राचीन जीवन-मूल्यों की नयी व्याख्याएँ, नये सन्दर्भ। जीवन की कला स्वाध्याय पर भी यह मनन-चिन्तन आवश्यक है।

आज के समाज का सबसे बड़ा मूल्य है, अत्यधिक व्यस्तता। प्राचीन सिद्धान्तों को अपनाने में यही सबसे बड़ी बाधा है। स्वाध्याय कब करें? कहाँ करें? जिजीविषा की दौड़ में समय ही कहाँ है? समाज के हर वर्ग के व्यक्तियों का यही सवाल है। उन्होंने देखा है बड़े-बूढ़ों को मन्दिरों और स्थानकों में शास्त्र पढ़ते हुए। एकान्त में सामायिक करते हुए। अतः यह सब सुविधा कहाँ से आये? इसलिए स्वाध्याय ही बन्द। उसकी उपयोगिता पर ही विराम।

दूसरा जीवन मूल्य है तर्क का। हर परिणाम को नाप-जोखकर उस दिशा में प्रवृत्त होने की वैज्ञानिकता का अनुगामी होने का। अच्छी बात है यह। किन्तु इसके परिणाम विपरीत भी हुए हैं। आज के व्यस्त मानव ने देखा-जो धर्म करता है, स्वाध्याय करता है उसे मिला क्या, उसके जीवन में परिवर्तन कहाँ आया? वह तो स्वाध्याय, धर्म के समय के अतिरिक्त मुझ से भी अधिक क्रोधी है, दुराग्रही है, जिज्ञासा से रहित है। इस समाज-दर्शन ने भी स्वाध्याय की सार्थकता को पीछे धकेल दिया। किन्तु क्या इससे स्वाध्याय का महत्त्व कम हो गया? नहीं, उसे और गहरायी से जानने का मार्ग खुला है।

विश्वविद्यालयों की शिक्षण-व्यवस्था, राजनीति, दगे-फसाद आदि ने इस सम्बन्ध में एक और परिणाम दिया। 8-10 वर्षों के निरन्तर अध्ययन और वैज्ञानिक

प्रयोगों के बाद भी जब ग्रन्थों का अध्ययन एवं प्रज्ञाओं का सत्संग स्नातक को मशाल लिये हुए सड़क पर खड़ा करता है तो घड़ी दो घड़ी का स्वाध्याय व्यक्ति को क्या बना देगा ? यह तीसरा जीवन-मूल्य सोचने को विवश करता है कि स्वाध्याय और ढेर सारी किताबों का अध्ययन दोनों एक नहीं है। फिर है क्या स्वाध्याय, जिसकी सभी धर्मों में इतनी प्रतिष्ठा है ? आज हजारों वर्ष बाद भी उसकी सार्थकता पर हम सोचना चाहते हैं ?

वस्तुतः स्वाध्याय जीवन का पर्याय है। व्यक्ति जन्म-मरण की श्रृंखला में निरन्तर कुछ न कुछ सीखता रहता है। प्रकृति के पदार्थ एवं चेतन द्रव्यों के हलन-चलन को देखकर व्यक्ति कुछ जान लेता है। पेड़ से सेव टूटकर गिरा कि एक व्यक्ति ने पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति का पता लगा लिया। यह स्वाध्याय है। यह जीवन है, सत्य के प्रति गहरी जिज्ञासा। इसमें अध्ययन का भारी वजन नहीं है, किन्तु जानने की सूक्ष्म सजगता है। वस्तुतः जीवन के चारों ओर की घटनाओं के प्रति सजग, चौकस पहरेदारी ही स्वाध्याय है। सम्भवतः इसीलिए किसी गुरु ने शिष्य को विदा करते हुए आशीष दी थी....

### स्वाध्यात् मा प्रमद

प्राचीन शास्त्रों में स्वाध्याय को तप माना गया है। बड़ी अद्भुत बात है। स्वाध्याय द्वारा महावीर ने जीवन के सत्य को उद्घाटित किया है। वस्तुतः जानने में दो ही वस्तु महत्त्वपूर्ण होती हैं... ज्ञेय और ज्ञाता। इनमें से ज्ञेय को जानना विज्ञान है और ज्ञाता को जानना धर्म है। निष्प्रयोजन पदार्थों को जानना मिथ्या ज्ञान है और ज्ञाता के स्वरूप को जानना तप है, साधना है। अतः महावीर ने कहा कि अपनी अनुपस्थिति को तोड़ने का नाम स्वाध्याय है। जब महावीर कहते हैं कि जागते हुए जिओ तो उसका आशय यही है कि स्वाध्याय में जिओ। और जो जागता हुआ जियेगा, उससे कुछ गलत नहीं हो सकता। यही उसका तप है। समस्त व्रतों का मूल है....

**'सर्वेभ्यो यद्भ्रतं मूलं स्वाध्यायः परमं तपः ।'**

ज्ञाता को जानना सरल नहीं है। साधना और एकाग्र मनन की इसमें आवश्यकता है। सम्भवतः इस कारण ही धर्म और दर्शन के ग्रन्थों को पढ़ने का क्रम स्वाध्याय के साथ जुड़ा होगा। दूसरे जड़ और चेतन के स्वरूप का ज्ञान हो जाय, इसके पीछे यह भावना थी। किन्तु आगे चलकर स्वाध्याय एक परिपाटी हो गयी, जिसने युवा वर्ग में स्वाध्याय के प्रति अरुचि पैदा की। आज के बदलते सन्दर्भों में यदि देखें तो स्वाध्याय का ऐसा प्रचलन कभी नहीं हुआ। परिवार का हर सदस्य अपने-आप कुछ न कुछ पढ़ता है। और एकान्त में मनोयोग से पढ़ता है। किन्तु

परिणाम ठीक विपरीत दृष्टिगोचर होते हैं। क्योंकि वह समय काटने के लिए पढ़ता है, जानने के लिए नहीं, जो स्वाध्याय की पहली शर्त है।

स्वाध्याय का अर्थ है....ग्राज से कल श्रेष्ठ होना। कल की श्रेष्ठता बिना दृष्टि खोले नहीं आ सकती। सत्य को पकड़ना ही होगा। और जब अध्ययन करने वाला सत्यदर्शी होता है तो उसके दुराग्रह विदा होने लगते हैं। वह वस्तु के विभिन्न पक्षों को जान जाता है। उसका चिन्तन सापेक्ष हो जाता है। यही कारण है कि जिसने जीवन भर पढ़ा हो, स्वाध्याय किया हो वह विचारों का कुबेर एवं शब्दों का मितव्ययी हो जाता है। बहुत कम बोलता है, किन्तु साधक। ऐसे व्यक्ति कों फिर पुस्तकों के अध्ययन की आवश्यकता नहीं रहती। वह जहाँ देखता है, वही से कुछ न कुछ पढ़ लेता है। वस्तुतः स्वाध्याय का सही अर्थ यही है कि जहाँ अध्ययन में, सत्य की अनुभूति में आत्मा के अतिरिक्त और कोई सहायक न हो। यही स्वाध्याय आत्मा को परमात्मा बनाता है। साधक अध्ययन में बहुत कुछ गुणों की वृद्धि करता है—

#### ‘प्रकास्तध्यवसायस्य स्वाध्यायोवृद्धिकारणम्’

आज का सबसे बड़ा फीशन है, नवीनता को ग्रहण करना। चाहे वह विज्ञान के क्षेत्र में हो अथवा सभ्यता और कला के क्षेत्र में। हर जगह नये प्रयोग देखने को मिलेंगे। यह नयापन आता कहाँ से है? इसके लिए दो बातें आवश्यक हैं—नयी उमंग एवं अत्यधिक अध्ययन। एक से काम नहीं चलेगा। इसीलिए पुरानी पीढ़ी अध्ययन करके और युवा पीढ़ी नयी उमंगें भरकर भी अग्रगामी हैं। जीवन में जागृत नहीं हैं। इसलिए जो कुछ इनसे हो रहा है, थोड़े दिन बाद गलत साबित हो जाता है। यहाँ स्वाध्याय मदद कर सकता है। जानो, पूरी शक्ति और लगन से जानो। गलती होने की संभावना निरन्तर कम होती जायेगी। संसार तक जानोगे तो वैज्ञानिक हो जाओगे और ज्ञाता को भी जानोगे तो परमात्मा के पथ पर होगे। अतः स्वाध्याय से हानि कहीं नहीं है। वह निःश्रेयस मार्ग है—

सज्जायएगन्तनिसेवणा य ।

सुत्तत्थसंचिन्तणाया धिई ष ॥ उक्त. 32/इ.

स्वाध्याय का एक सूत्र यह भी है कि जीवन में कहीं आवरण को मत पकड़ो। अच्छा-बुरा जो भी किया है, उसका लेखा-जोखा दिन में एक बार अवश्य करो। इससे बहुत कुछ मूल छन जायेगा। और यदि कहीं सद्ग्रन्थों का अध्ययन तथा सत्संग करने की आदत डाल ली तो स्वमेव जीवन से बनावटी पन समाप्त होने लगेगा। स्वाध्याय की यह निष्पत्ति है कि अपने जीवन को खुली किताब के समान रखो। उस हवादार और रोशनदान युक्त मकान की तरह, जिसमें प्रकाश आ सके और घूल के कण बाहर जा सकें। स्वाध्याय यही सिखाता है।

अपने द्वारा किया गया अध्ययन स्वाध्याय कहा जाता है। इसमें किसी गुरु की अपेक्षा आवश्यक नहीं। इस बात का गहरा अर्थ है। जब गुरु की अपेक्षा नहीं हो तो स्वाध्याय में पुस्तक भी अनिवार्य नहीं है। वह एक साधन मात्र हो सकती है तथ्य तक पहुँचने का, किन्तु जानना 'स्व' को होगा। इसका अर्थ हुआ कि 'स्व' कहीं से भी, कुछ भी जान सकता है शायद इसीलिए भारतीय साहित्य में देशाटन को भी ज्ञानवृद्धि का एक उत्तम उपाय माना है। वहाँ भी स्वाध्याय हो सकता है। हमारे देश में तीर्थवन्दना इसी स्वाध्याय के हेतु प्रचलित हुई थी। पर्वतों पर, एकान्त स्थानों पर तीर्थों का होना अकारण नहीं है। वहाँ जाकर व्यक्ति संसार की विचित्रता और आत्मा की विशेषता के सम्बन्ध में गहराई से सोच सकता है।

स्वाध्याय का केवल धार्मिक और व्यक्तिगत महत्त्व ही नहीं है। समाज के अन्य क्षेत्रों में भी वह शोधन प्रारम्भ करता है। यदि स्वाध्याय के मूलमन्त्र सापेक्ष चिन्तन को पकड़ा जाय तो आज जो दुराग्रहों, मतमतान्तरों को लेकर भगड़े हैं, वे शान्त होंगे। आज जो संचय की प्रवृत्ति के कारण व्यक्ति दूसरों के हितों को छीनता है, वह 'स्व' के स्वरूप के सम्बन्ध में अज्ञान ही है। वह शरीर को ही सब कुछ मानता है। अतः उसकी सुविधा के साधन एकत्र करता है। स्वाध्याय से जब उसे ज्ञात होगा कि शरीर और आत्मा में भेद है। एक अपना है, एक पराया, तो वह स्वमेव पराये शरीर के लिए चिन्ता करना छोड़ देगा। समाज की बुराइयाँ इससे दूर होंगी। अतः स्वाध्याय व्यक्ति को सामाजिक और सुयोग्य नागरिक भी बनाता है। वर्तमान सन्दर्भों में स्वाध्याय अपनी अर्थवत्ता पूर्ववत् ही बनाये हुए है, जरूरत उसके सही स्वरूप को उद्घाटित कर अपनाने की है।



## कर्म एवं पुरुषार्थ

जैन दर्शन में कर्म स्वतन्त्र तत्त्व के रूप में स्वीकृत है। कर्म अनन्त परमाणुओं के स्कन्ध हैं। वे प्राणियों की योग और कषाय की प्रवृत्तियों द्वारा आत्मा के साथ बंध जाते हैं तथा यथा-समय जीव को अच्छा-बुरा फल प्रदान करते हैं। जैन दर्शन के प्राचीन ग्रन्थों में कर्मसिद्धान्त का विस्तार से सूक्ष्म विवेचन है।<sup>1</sup> भगवतीसूत्र में भगवान् महावीर और गौतम के बीच हुए प्रश्नोत्तरों में कर्मसिद्धान्त को कहा गया है। प्रमाद और योग कर्म-बन्धन के कारण माने गए हैं।<sup>2</sup> ठाणांग एवं प्रजापता आदि में कषायों के द्वारा कर्मबन्ध की बात कही गई है।<sup>3</sup> कषायप्राभूत आदि कर्मग्रन्थों में कर्मसिद्धान्त पर कई दृष्टियों से विचार किया गया है। उत्तरकालीन प्राकृत व संस्कृत साहित्य में जैन दर्शन के कर्म विषयक विभिन्न पहलुओं का विवेचन किया गया है।

प्राकृत साहित्य में प्राप्त इस विवेचन में कहा गया है कि विश्व की विचित्रता एवं प्राणियों की हीनता एवं उच्चता कर्मों के कारण ही होती है। व्यक्ति को अपने अच्छे-बुरे कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है। जीव स्वयं के उपाजित कर्मजाल में आबद्ध होता है। कृत कर्मों के भोगे बिना उसकी मुक्ति नहीं है। यथा—

सत्यमेव कडोहि गाहइ, नो तस्स मूच्चेज्जसुट्ठयं ।”

—सूत्रकृतांग 1. 2, 1 4

उत्तराध्ययन सूत्र में “कडाण कम्माण न मुक्ख अत्थि” (4/3) आदि के द्वारा इसी का समर्थन किया गया है। विशेषावश्यकभाष्य में यही बात दूसरे शब्दों में कही गई है कि जीव कर्म-ग्रहण करने में स्वतन्त्र है और उसका फल भोगने में परतंत्र। जैसे कोई व्यक्ति पेड़ पर चढ़ने में स्वतन्त्र है किन्तु प्रमादवश वृक्ष से गिर पड़ने में परतन्त्र है। यथा—

कम्मं चिरांति सवसा, तस्सुदयम्मि उ परवसा होन्ति ।

रुक्खं दु रुहइ सवसो, विगलसपरवसो तत्तो ॥ 1-3 ॥



आचार्य कुन्दकुन्द ने भी यही कहा है कि जीव और कर्म पुद्गल एक-दूसरे में मिले हुए हैं। समय आने पर पृथक भी हो सकते हैं। किन्तु जब तक वे मिले हुए हैं, कर्म सुख-दुख देता है और जीव को वह भोगना पड़ता है।<sup>4</sup> इस तरह यह निश्चित होता चला गया कि कर्म बलवान है। व्यक्ति को कर्मों के अनुसार ही चलना पड़ता है। श्रमण-परम्परा में व्यक्ति को ईश्वर के हस्तक्षेप व अनुकम्पा आदि से जहाँ बचाया गया वहाँ उसे कर्मों के हाथ में सौंप दिया गया।<sup>5</sup> कर्मों की भवितव्यता आदि के इसी सामर्थ्य के कारण होनहार, भाग्य, नियति आदि कर्मवाद के पर्यायवाची बन गए। इसी बात को लेकर भगवान बुद्ध एवं महावीर के साथ उस समय के कई दार्शनिकों का मतभेद भी हुआ। उनके बीच हुए प्रश्नोत्तरों का परिणाम यह हुआ कि श्रमण परम्परा में कर्मसिद्धान्त का सूक्ष्मता से विवेचन किया गया। होनहार अथवा नियति आदि से कर्मवाद की भिन्नता स्पष्ट की गयी। कर्म और पुरुषार्थ के अलग-अलग महत्व को समझा गया। व्यक्ति स्वातन्त्र्य एवं कर्म-विपाक के सम्बन्ध को अनेक उदाहरणों द्वारा जैन आगमों एवं परवर्ती साहित्य में स्पष्ट किया गया है।

प्राकृत साहित्य में कर्मों के विवेचन में यह कहा गया है कि कर्मों का विपाक दो तरह में होता है। कुछ कर्म अपने निश्चित समय पर व्यक्ति को अपने आप अच्छा-बुरा फल देते हैं। यह प्रक्रिया उनमें स्वाभाविक होती है। इसमें व्यक्ति का प्रयत्न कुछ नहीं कर सकता। किन्तु कुछ कर्म ऐसे होते हैं जिनका फल समय से पहले एवं मन्दता के साथ व्यक्ति के प्रयत्नों द्वारा भोगा जा सकता है। व्यक्ति का पुरुषार्थ ऐसे कर्मों के फल को बदल सकता है। अतः गरुडधरवाद में यह कहा गया है कि कभी जीव कर्मों के अधीन होता है और कभी कर्म जीव के अधीन। अतः कर्म और जीव के प्रयत्नों में संघर्ष चलता रहता है। यथा—

कत्थवि बलिओ जीवो, कत्थवि कम्मइ हुंति बलियाइं ।

जीवस्य य कम्मस्स य, पुट्ठबिहुराईं बैराईं ॥ 2-25 ॥

आचार्य समन्तभद्र ने भी यही मत प्रकट किया है कि बुद्धिपूर्वक कर्म न करने से जो कुछ प्राप्त होता है वह भाग्य (कर्म) के अधीन है और व्यक्ति के प्रयत्न से इष्ट-अभिष्ट की प्राप्ति होना पुरुषार्थ के अधीन है। कहीं पर दैव प्रधान होता है तो कहीं पुरुषार्थ।<sup>6</sup> आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने भी कार्य की उत्पत्ति में पूर्व कर्म आदि के साथ पुरुषार्थ का भी समन्वय आवश्यक माना है।<sup>7</sup> भगवती सूत्र में गौतम के प्रश्न के उत्तर में भगवान महावीर ने यह पहले ही स्पष्ट कर दिया था कि कर्म के स्वाभाविक उदय में नए पुरुषार्थ की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु उदीरणा योग्य कर्म पुद्गलों की सामर्थ्य को जीव अपने पुरुषार्थ द्वारा कम कर सकता है। इन कर्मों की उदीरणा मन, वचन, काय के योग द्वारा होती है।<sup>8</sup> इसी से कर्मों का संवर व निर्जरा होती है जो मुक्ति का मार्ग है। अतः कर्मों की रज से आत्मा को निर्मल

करने के लिए व्यक्ति का पुरुषार्थी होना अप्रमादी होना, बहुत आवश्यक है। इसी से जैन दर्शन में तप आदि की प्रधानता है। अप्रमाद की प्रतिष्ठा है। यथा—

“विदुर्णाहि रयं पुरे कडं, समयं गोयम ! मा पमायए—” (उत्तरा 10/3)

जैन आगम साहित्य में प्रतिपादित कर्म और पुरुषार्थ सम्बन्धी चिन्तन का प्रभाव प्राकृत कथाओं में भी देखने को मिलता है। वैसे तो प्रायः प्रत्येक प्राकृत कथा में पूर्वजन्म, कर्मों का फल तथा मुक्ति प्राप्ति के लिए संयम वंराग्य आदि पुरुषार्थों का संकेत मिलता है। किन्तु कुछ कथाएँ ऐसी भी हैं जो कर्म-सिद्धान्त का ही प्रतिपादन करती हैं तो कुछ पुरुषार्थ का। भारतीय संस्कृति में चार पुरुषार्थों का विवेचन है-धर्म, अथ, काम एवं मोक्ष। वस्तुतः प्राकृत कथाओं में इनमें से दो को ही पुरुषार्थ माना गया है, काम और मोक्ष को। शेष दो पुरुषार्थ इनकी प्राप्ति में सहायक हैं। धर्म पुरुषार्थ से मोक्ष सधता है तो अर्थ से काम पुरुषार्थ। अर्थात् लौकिक समृद्धि व सुख आदि। प्राकृत कथाओं में इन लौकिक और पारलौकिक दोनों पुरुषार्थों का वर्णन है, किन्तु उनका प्रभाव समाज पर भिन्न-भिन्न पड़ा है।

प्राकृत कथाओं में कर्म-सिद्धान्त को प्रतिपादित करने वाली कथाएँ ज्ञाता-धर्मकथा में उपलब्ध हैं। मणिकुमार सेठ की कथा में कहा गया है कि पहले उसने एक सुन्दर वापी का निर्माण कराया। परोपकार एवं दानशीलता के अनेक कार्य किये। किन्तु एक बार जब उसके शरीर में मोलह प्रकार की व्याधियाँ हो गयीं तो देश के प्रख्यात वैद्यों की चिकित्सा द्वारा भी मणिकुमार स्वस्थ नहीं हो सका। क्योंकि उसके आसता कर्मों का उदय था, इसलिए उसे रोगों का दुख भोगना ही था।<sup>9</sup> इसी ग्रन्थ में काली आर्या की एक कथा है, जिसमें अशुभ कर्मों के उदय के कारण उसकी दुःप्रवृत्ति में बुद्धि लग जाती है और वह साध्वी के आचरण में शिथिल हो जाती है।<sup>0</sup>

आगम ग्रन्थों में विपाकसूत्र कर्म-सिद्धान्त के प्रतिपादन का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। इसमें 20 कथाएँ हैं। प्रारम्भ की दस कथाएँ अशुभ कर्मों के विपाक को एवं अंतिम दस कथाएँ शुभ कर्मों के फल को प्रगट करती हैं।<sup>11</sup> मियापुत्त की कथा क्रूरता पूर्वक आचरण करने के फल को व्यक्त करती है तो सोरियदत्त की कथा मांसभक्षण के परिणाम को। इसी तरह की अन्य कथाएँ विभिन्न कर्मों के परिपाक को स्पष्ट करती हैं। इन कथाओं का स्पष्ट उद्देश्य प्रतीत होता है कि लोग अशुभ कर्मों को छोड़कर शुभ कर्मों की ओर प्रवृत्त हों।

स्वतन्त्र प्राकृत कथा-ग्रन्थों में कर्मवाद की अनेक कथाएँ हैं। तरंगवती में पूर्वजन्मों की कथा है। तरंगवती को कर्मों के कारण पति वियोग सहना पड़ता है।<sup>12</sup> वसुदेवहिण्डी में तो कर्मफल के अनेक प्रसंग हैं। चारुदत्त की दरिद्रता उसके पूर्वकृत कर्मों का फल मानी जाती है। इस ग्रन्थ में वसुभूति दरिद्र ब्राह्मण की कथा होनहार

का उपयुक्त उदाहरण है। वसुभूति के यज्ञदत्ता नाम की पत्नी थी। पुत्र का नाम सोमशर्म तथा पुत्री का सोमशर्मा था। उनके रोहिणी नाम की एक गाय थी। दान में मिली हुई खेती करने के लिए थोड़ी-सी जमीन थी। एक बार अपनी दरिद्रता को दूर करने के लिए वसुभूति शहर जा रहा था तो उसने अपने पुत्र से कहा कि मैं साहूकारों से कुछ दान-दक्षिणा मांगकर शहर से लौटूंगा। तब तक तुम खेती की रक्षा करना। उसकी उज्र और दान में मिले धन से मैं तेरी और तेरी बहिन की शादी कर दूंगा। तब तक अपनी गाय भी बछड़ा दे देगी। इस तरह हमारे संकट के दिन दूर हो जायेंगे।

ब्राह्मण वसुभूति के शहर चले जाने पर उसका पुत्र सोमशर्म तो किसी नदी के संसर्ग से नष्ट बन गया। अरक्षित खेती सूख गयी। सोमशर्मा पुत्री के किसी धूर्त से गर्भ रह गया और गाय का गर्भ किसी कारण से गिर गया। सयोग से ब्राह्मण को भी दक्षिणा नहीं मिली। लौटने पर जब उसने घर के समाचार जाने तो कह उठा कि हमारा भाग्य ही ऐसा है।<sup>13</sup> इस ग्रन्थ में इस तरह के अन्य कथानक भी हैं।

आचार्य हरिभद्र ने प्राकृत की अनेक कथाएँ लिखी हैं। समराइच्चकहा और घूर्ताख्यान के अतिरिक्त उपदेशपद एवं दशवैकालिकचूर्ण में भी उनकी कई कथाएँ कर्मवाद का प्रतिपादन करती हैं। उनमें कर्म विपाक अथवा दैवयोग मे घटित होने वाले कई कथानक हैं, जिनके आगे मनुष्य की बुद्धि और शक्ति निरर्थक जान पड़ती है।<sup>14</sup> समराइच्चकहा के दूसरे भव में सिंहकुमार की हत्या जब स्वयं उसका पुत्र आनन्द राजपद पाने के लिए करने लगता है तो सिंह कुमार सोचता है कि जैसे अनाज पक जाने पर किसान अपनी खेती काटता है वैसे ही जीव अपने किये हुए कर्मों का फल भोगता है।<sup>15</sup> उपदेशपद में 'पुरुषार्थ या दैव' नाम की एक कथा ही हरिभद्र ने प्रस्तुत की है।<sup>16</sup> इसमें कर्मफल की प्रबलता है।

कुबलयमालाकहा में उद्योतनसूरि ने कई प्रसंगों में कर्मों के फल भोगने की बात कही है। पांच कषायों के वशीभूत होकर जीने वाले व्यक्तियों को क्या-क्या भोगना पड़ा इसका विस्तृत विवेचन लोमदेव आदि की कथाओं में इस ग्रन्थ में किया गया है।<sup>17</sup> राजा रत्नमुकुट की कथा में दीपशिखा और पतंगे का दृष्टांत दिया गया है। राजा ने पतंगे को मृत्यु से बचाने के लिये बहुत प्रयत्न किये। अन्त में उसे एक सन्दूकची में बन्द भी कर दिया। किन्तु प्रातःकाल तक उसे एक छिपकली खा ही गयी। राजा का प्रयत्न कर्म-फल के आगे व्यर्थ गया। उसने सोचा कि निपुण वैद्य रोगी की रोग से रक्षा तो कर सकते हैं किन्तु पूर्वजन्मकृत कर्मों से जीव-रक्षा वे नहीं कर सकते। यथा—

वेज्जा करेति किरियं ओसह-जोएहि भंत-बल-जुत्ता ।

सोय करेति बराया ण कयं जं पुव्व-जम्मम्मि ॥....कुव० 140.25

प्राकृत कथाओं के कोशग्रन्थों में कर्मफल सम्बन्धी अनेक कथाएं प्राप्त हैं। आख्यानमणिकोश में बारह कथाएं इस प्रकार की हैं। कर्म अथवा भाग्य के सामर्थ्य के सम्बन्ध में अनेक सुभाषित इस ग्रन्थ में प्रयुक्त हुए हैं। ऋषिदत्ता आख्यान के प्रसंग में कहा गया है कि कर्मों के अनुसार ही व्यक्ति सुख-दुख पाता है। अतः किये हुए कर्मों (के परिणाम) का नाश नहीं होता। यथा—

जं जेण पावियव्वं सुहं व दुक्खं व कम्मनिम्मवियं ।

तं सो तहेव पावइ कयस्स नासो जज्जो नत्थि ॥ .. पृ. 250, गा. 151 ॥

प्राकृत-कथा-संग्रह में कर्म की प्रधानता वाली कथाएं हैं। समुद्रयात्रा के दौरान जब जहाज भग्न हो जाता है तब नायक सोचता है कि किसी को कभी भी दोष न देना चाहिये। सुख और दुख पूर्वजित कर्मों का ही फल होता है।<sup>18</sup> इसी तरह प्राकृत कथाओं में परीषह-जय की अनेक कथाएं उपलब्ध हैं। वहाँ भी तपश्चरण में होने वाले दुख को कर्मों का फल मानकर उन्हें समता पूर्वक सहन किया जाता है। प्रपञ्चश के कथाग्रन्थों एवं कथाकोश में इस प्रकार की कई कथाएं हैं। सुकुमाल स्वामी की कथा पूर्व-जन्मों के कर्म विपाक को स्पष्ट करने के लिए ही कही गयी है। होनहार कितनी बलवान है, यह इस कथा से स्पष्ट हो जाता है।<sup>19</sup>

### पुरुषार्थ विवेचन :

कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी इन प्राकृतकथाओं के वर्णनों पर यदि पूर्णतः विश्वास किया गया होता और भवितव्यता को ही सब कुछ मान लिया गया होता तो लौकिक और पारलौकिक दोनों तरह के कोई प्रयत्न व पुरुषार्थ जैन धर्म के अनुयायियों द्वारा नहीं किये जाते। इस दृष्टि से यह समाज सबसे अधिक निष्क्रिय, दरिद्र और भाग्यवादी होता। किन्तु इतिहास साक्षी है कि ऐसा नहीं हुआ। अन्य विधाओं के जैन साहित्य को छोड़ भी दें तो यही प्राकृत कथाएं लौकिक और पारमार्थिक पुरुषार्थों का इतना वर्णन करती हैं कि विश्वास नहीं होता उनमें कभी भाग्यवाद या कर्मवाद का विवेचन हुआ होगा। कर्म और पुरुषार्थ के इस अन्तर्द्वन्द्व को स्पष्ट करने के लिए प्राकृत कथाओं में प्राप्त कुछ पुरुषार्थ सम्बन्धी सन्दर्भ यहाँ प्रस्तुत हैं।

ज्ञाताधर्मकथा में उदकज्ञाता अध्ययन में सुबुद्धि मन्त्री की कथा है। इसमें उसने जितशत्रु राजा को एक खाई के दुर्गन्ध युक्त अपेय पानी को शुद्ध एवं पेय जल में बदलने की बात कही। राजा ने कहा—यह नहीं हो सकता। तब मन्त्री ने कहा कि पुद्गलों में जीव के प्रयत्न और स्वाभाविक रूप से परिवर्तन होते रहते हैं।<sup>20</sup> अतः व्यक्ति के पुरुषार्थ से कर्म पुद्गलों को भी परिवर्तित किया जा सकता है। राजा ने इस बात को स्वीकार नहीं किया। तब सुबुद्धि ने जल शोधन की विशेष प्रक्रिया द्वारा उसी खाई के अशुद्ध जल को अमृत सुदृश मधुर और पेय बनाकर दिखा

दिया। तब राजा की समझ में आया कि व्यक्ति की सद्प्रवृत्तियों के पुरुषार्थ उसके जीवन को बदल सकते हैं। अन्त में राजा और मन्त्री दोनों जैन धर्म में दक्षिण हो गये।<sup>21</sup> इसी ग्रन्थ में समुद्रयात्रा आदि की कथाएं भी हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि संकट के समय भी साहसी यात्री अपना पुरुषार्थ नहीं त्यागते थे। जहाज भग्न होने पर समुद्र पार करने का भी प्रयत्न करते थे। अनेक कठिनाइयों को पार कर भी वरिष्कपुत्र सम्पत्ति का अर्जन करते थे।

उत्तराध्ययनटीका (नेमीचन्द्र) में एक कथा है, जिसमें राजकुमार मन्त्रीपुत्र और वरिष्कपुत्र अपने-अपने पुरुषार्थ का परीक्षण करके बतलाते हैं।<sup>22</sup> दशवैकालिक चूर्णी में चार मित्रों की कथा में पुरुषार्थों की श्रेष्ठता सिद्ध की गयी है।<sup>23</sup> वसुदेव-हिण्डी ये अर्थ और काम पुरुषार्थ की अनेक कथोपकथाएं हैं। अर्थोपार्जन पर ही लौकिक सुख आधारित है। अतः इस ग्रन्थ की एक कथा में चारुदत्त दरिद्रता को दूर करने के लिए अन्तिम क्षण तक पुरुषार्थ करना नहीं छोड़ता। 'उच्छाहे सिरि वसति' इस सिद्धान्त का पालन करता है।<sup>24</sup> समराईच्चकहा में लौकिक और पारमार्थिक पुरुषार्थ की अनेक कथाएं हैं।<sup>25</sup>

उद्धोतनसूरि ने कुवलयमाला में एक ओर जहाँ कर्मफल का प्रतिपादन किया है, वहाँ चंडसोम आदि की कथाओं द्वारा यह भी स्पष्ट कर दिया है कि पापी से पापी व्यक्ति भी यदि सद्गति में लग जाए तो वह सुख-समृद्धि के साथ जीवन के अन्तिम लक्ष्य को भी प्राप्त कर सकता है। मायादित्य की कथा में कहा गया है कि लोक में धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थों में से जिसके एक भी नहीं है उसका जीवन जड़वत् है। अतः अर्थ का उपार्जन करो जिससे शेष पुरुषार्थों की सिद्धि हो (कुव. 58. 13-15)। सागरदत्त की कथा से ज्ञात होता है कि बाप-दादाओं की सम्पत्ति से परोपकार करना व्यर्थ है। जो अपने पुरुषार्थ से अर्जित धन का दान करता है वही प्रशंसा का पात्र है, बाकी सब चोर हैं—

जो देई धरां दुह-सय-समिज्जयं अत्तणो भुय-बलेण ।

सो किर पसंसणिज्जो इयरो चोरो विव वराओ ॥ कुव. 103-23 ॥

इसी तरह इस ग्रन्थ में धनदेव की कथा है। वह अपने मित्र मद्रश्रेष्ठी को प्रेरणा देकर व्यापार करने के लिए रत्नदीप ले जाना चाहता है। मद्रश्रेष्ठी इसलिए वहाँ नहीं जाना चाहता क्योंकि वह सात बार जहाज भग्न हो जाने से निराश हो चुका था। तब धनदत्त उसे समझाता है कि "पुरुषार्थ-हीन होने से तो लक्ष्मी विष्णु को भी छोड़ देती है और जो पुरुषार्थी होता है उसी पर वह दृष्टिपात करती है। अतः तुम पुनः साहस करो। व्यक्ति के लगातार प्रयत्न करने पर ही भाग्य को बदला जा सकता।"<sup>6</sup>

प्राकृत के अन्य कथा-ग्रन्थों में भी इस प्रकार की पुरुषार्थ सम्बन्धी कथाएं देखी जा सकती हैं। श्रीपाल कथा कर्म और पुरुषार्थ के अन्तर्द्वन्द्व का स्पष्ट उदाहरण

है। मैना सुन्दरी अपने पुरुषार्थ के बल पर दरिद्र एवम कोढ़ी पति को स्वस्थ कर पुनः सम्पत्तिशाली बना देती है। प्राकृत के ग्रन्थों में इस विषयक एक बहुत रोचक कथा प्राप्त है। राजा भोज के दरबार में एक भाग्यवादी एवं पुरुषार्थी व्यक्ति उपस्थित हुआ। भाग्यवादी ने कहा कि सब कुछ भाग्य से होता है, पुरुषार्थ व्यर्थ है। पुरुषार्थी ने कहा—प्रयत्न करने से ही सब कुछ प्राप्त होता है, भाग्य के भरोसे बँठे रहने से नहीं। राजा ने कालिदास नामक मन्त्री को उनका विवाद निपटाने को कहा। कालिदास ने उन दोनों के हाथ बांधकर इन्हें एक अंधेरे कमर में बन्द कर दिया और कहा कि आप लोग अपने-अपने सिद्धान्त को अपना कर बाहर आ जाना। भाग्यवादी निष्क्रिय होकर कमरे के एक कोने में बँठा रहा। पुरुषार्थी तीन दिन तक कमरे से निकलने का द्वार खोजता रहा। अन्त में थक कर वह एक स्थान पर गिर पड़ा। जहाँ उसके हाथ थे वहाँ चूहे का बिल था। अतः उसके हाथ का बन्धन चूहे ने काट दिया। दूसरे दिन वह किसी प्रकार दरवाजा तोड़कर बाहर आ गया। बाद में वह भाग्यवादी को भी निकाल लाया। और कहने लगा उद्यम के फल को जानकर यावत् जीवन उसे नहीं छोड़ना चाहिए। पुरुषार्थ फलदायी होता है।<sup>27</sup>

उज्जमस्स फलं नच्चा विउसदुगनायगे ।

जावज्जीवं न छुड् डेज्जा उज्जमं फलदायगं ।।

चिन्तनीय प्रश्न :

प्राकृत कथाओं में कर्म एवं पुरुषार्थ सम्बन्धी इन कुछ उदाहरणों से स्पष्ट है कि कर्मवाद अधिक सबल है। इसके प्रतिपादन के मूल में सम्भवतः यह प्रमुख कारण था कि ईश्वर जैसे सर्वशक्तिमान व्यक्तित्व के स्थानापन्न के रूप में कर्मवाद की स्थापना करना था। अतः उसे भी उतना ही अकाट्य और प्रभावशाली बनाया गया है। इसके पीछे जैन आचार्यों का यह भी उद्देश्य हो सकता है कि व्यक्ति कर्म को सब कुछ मान कर अपने कार्यों के प्रति मिथ्या अहंकार न करे। प्रयत्नों के उपरान्त यदि उसे सफलता न मिले तो वह कर्मफल को मानकर व्यर्थ धारण कर सके। दुःख की भयावह स्थितियों में वह घबड़ाये नहीं, अपितु अच्छे कर्मफल की आशा में उस स्थिति से उबर सके। साथ ही कर्मफल के प्रतिपादन में यह शिक्षा देना भी निहित रहा होगा कि व्यक्ति शुभकर्मों के अच्छे फल की ओर आकर्षित होकर सद्प्रवृत्तियों में पुरुषार्थ करे। इस तरह कर्मफल का प्रतिपादन एक ओर यदि जड़ और आलसी व्यक्तियों के लिए निष्क्रियता, भाग्यवाद, अन्धविश्वास आदि में प्रवृत्त होने का कारण है तो दूसरी ओर जागरूक व्यक्ति इससे पुरुषार्थ में प्रवृत्त होने की प्रेरणा भी ग्रहण कर सकते हैं।

आधुनिक युग में कर्मवाद के सिद्धान्त के साथ कई प्रश्न चिन्ह जुड़े हुए हैं। यदि व्यक्ति का कर्म ही सब कुछ है, उसे उनका फल निश्चित ही भोगना पड़ेगा तो फिर वह सत्कार्यों में क्यों और कैसे प्रवृत्त हो सकता है? अतः आज के व्यक्ति ने

अच्छे-बुरे दोनों प्रकार के कर्मफलों के प्रति उदासीन वृत्ति अपना ली है। भविष्य में मिलने वाले फल के प्रति उसका विश्वास नहीं रहा। इसलिए वह वर्तमान में जीना चाहता है। वर्तमान को यथासम्भव सुखी बनाने के प्रयत्न में वह है। यदि सूक्ष्मता से देखें तो सम्भवतः यह प्रवृत्ति पालि-प्राकृत की कथाओं में बहुत पहले से प्रारम्भ गयी थी। लौकिक पुरुषार्थ वहाँ प्रमुखता को प्राप्त है।

कर्म-सिद्धान्त के सम्बन्ध में दूसरा चिन्तन यह उभरा है कि कर्मों के फल अवश्य मिलते हैं। किन्तु हजारों वर्षों में, जन्मों में नहीं, अपितु तुरन्त ही वर्तमान जीवन में ही व्यक्ति सुख-दुःख भोग लेता है। उनकी मनोवृत्तियाँ ही उसे अच्छे-बुरे कार्यों में प्रवृत्त करती हैं, जिन पर वह अपनी चेतन शक्ति द्वारा नियन्त्रण करता रहता है। व्यक्ति के पुरुषार्थ के आगे अनन्त जन्मों की कर्मशृंखला कोई मायने नहीं रखती। अब दिनों दिन व्यक्ति की दृष्टि सूक्ष्म और वैज्ञानिक होती जा रही है। अतः वह किसी कार्य का केवल एक कारण स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं है। सुख-दुःख अनेक कारणों के परिणाम हैं। कर्मफल उनमें से एक कारण हो सकता है। अतः अब कर्मवाद उतना भयावह नहीं रहा है और न आकर्षक ही, जितना प्राचीन समय में था।

वर्तमान युग के जीवन में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि एक व्यक्ति के कर्म केवल उसे ही प्रभावित नहीं करते। अपितु एक व्यक्ति के कर्मों का फल सामूहिक भोगना पड़ सकता है। जैसे किसी यान चालक की लापरवाही का परिणाम सभी भुगतते हैं। अथवा किसी जमाखोर के कारण अनेक उपभोक्ता दुःखी हो सकते हैं। इसी प्रकार सामूहिक कर्मों का फल भी व्यक्तिगत रूप से भोगना पड़ता है। देश में हरित क्रान्ति लाने वाले कुछ किसान हो सकते हैं, किन्तु उपज की समृद्धि का लाभ करोड़ों लोग उठाते हैं। अतः कर्म-सिद्धान्त में अब व्यक्ति अकेला भोक्ता नहीं है। इसलिये बहुत आवश्यक हो गया है कि सामूहिक रूप से कर्मों में सुधार किया जाय। इन सब प्रश्नों के परिप्रेक्ष्य में जैन साहित्य में प्रतिपादित कर्मसिद्धान्त व पुरुषार्थ का विवेचन चिन्तनीय है।

### सन्दर्भ

1. मेहता, मोहनलाल, जैन साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग-4
2. भगवई, जैन विश्व भारती प्रकाशन, 1974, सूत्र 1, 2, 34
3. ठाण्णंग, 4-92 एवं प्रज्ञापना 23-1-290।
4. जीवा पुग्गलकाया अण्णोण्णगागाढगहणपडिबद्धा।

काले विजुज्झाणा, सुहदुस्स दित्ति भुंजन्ति ॥

—पंचास्तिकाय, गा. 67।

5. पाप्पोदएण अत्थो हत्थं पत्तो वि एस्सदि एरस्स।

दूरादो वि सपुण्णस्स एदि अत्थो अयत्तेण ॥ भग. भा गा. 1731

6. आप्तमीमांसा, कारिका, 89-91 ।
7. कालो सहाव णियइ पुव्वकम्म पुरिसकारणंगता ।  
मिच्छतं तं चैव उ समासत्वो हुंति सम्मतं ॥—सन्मतितर्कप्रकरण 3-53
8. भगवती, 7-3-35
9. ज्ञाताधर्मकथा, 1-13
10. शास्त्री, देवेन्द्रमुनि, महावीर युग की प्रतिनिधि कथाएँ, पृ. 53
11. जैन, जगदीशचन्द्र, प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ. 94-95
12. द्रष्टव्य, तरंगलोला की कथा ।
13. बसुदेवहिंडी पृ. 31
14. शास्त्री, नेमीचन्द्र, हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन, पृ. 212
15. जह वा लुणाइ सासाइ कासओ परिणयाइ कालेण ।  
इय भूयाइ कयन्तो लुणाइ जायइ जायाइ ॥ 2-223
16. उपदेवपद, गाथा 353-356 ।
17. द्रष्टव्य, लेखक का ग्रन्थ—'कुवलयमालाकथा का सांस्कृतिक अध्ययन,'  
वंशाली 1975
18. अहवा न दायव्वा दोसो कस्सवि केण कइयावि ।  
पुव्वज्जिय कम्माओ हवन्ति जं सुक्खं दुक्खाइं ।
19. सुकुमालसामीचरित्त—पं. श्रीधर ।
20. पद्मोगबीससापरिणया वि य रां सामी! पोगला पण्णत्ता ।—ज्ञाता. 1-12
21. ज्ञाताधर्मकथा 1-13
22. जैन, जगदीशचन्द्र, 'दो हजार वर्ष पुरानी कहानियाँ, पृ. 75
23. दशवंकालिकचूर्णी पृ. 103-104
24. बसुदेवहिंडी, पृ. 143
25. द्रष्टव्य, शास्त्री, वही, तृतीय प्रकरण ।
26. जइ घडियं विहडिज्जइ घडियं घडियं पुराणो वि विहडेइ ।  
ता घडण-विहडणाहिं होहिइ विहडणफडो दव्वो ॥ —कुव. 66-31
27. जैन, राजाराम, पाइयगज्जसंगहो (वीयोभाओ) पृ. 34-35





## जैन धर्म : बदलते सन्दर्भों में

भगवान् महावीर के युग और आज के परिवेश में पर्याप्त अन्तर हुआ है। उस समय जिस धार्मिक अनुशासन की आवश्यकता थी उसकी पूर्ति महावीर ने की। उनके धर्म को आज 2500 वर्ष से अधिक समय हो गया जब सब कुछ परिवर्तित हुआ है। प्रत्येक युग नए परिवर्तनों के साथ उपस्थित होता है। कुछ परम्पराओं का पीछे छोड़ देता है। किन्तु कुछ ऐसा भी शेष रहता है, जो अतीत और वर्तमान को जोड़े रहता है। बौद्धिक मानस इसा जोड़ने वाली कड़ी को पकड़ने और परखने का प्रयत्न करता है अतः आज के बदलते हुए संदर्भों में प्राचीन आस्थाओं, मूल्यों एवं चिन्तन-धाराओं की सार्थकता की अन्वेषणा स्वभाविक है। जैन धर्म मूलतः बदलते हुए सन्दर्भों का ही धर्म है। वह आज तक किसी सामाजिक कटघरे, राजनैतिक परकोटे तथा वर्ग और भाषागत दायरों में नहीं बंधा। यथार्थ के घरातल पर वह विकसित हुआ है। तथ्य को स्वीकारना उसकी नियति है, चाहे वे किसी भी युग के हों, किसी भी चेतना द्वारा उनका आत्म-साक्षात्कार किया गया हो।

### व्यापक परिप्रेक्ष्य :

वर्तमान युग जैन धर्म के परिप्रेक्ष्य में बदला नहीं, व्यापक हुआ है। भगवान् ऋषभ देव ने श्रमण धर्म की उन मूलभूत शिक्षाओं को उजागर किया था जो तात्कालिक जीवन की आवश्यकताएँ थीं। महावीर ने अपने युग के अनुसार इस धर्म को और अधिक व्यापक किया। जीवन-मूल्यों के साथ-साथ जीव-मूल्य की भी बात उन्होंने कही। आचरण की अहिंसा का विस्तार वैचारिक अहिंसा तक हुआ। व्यक्तिगत उपलब्धि, चाहे वह ज्ञान की हो या वैभव की, अपरिग्रह द्वारा सावैजनिक की गई। शास्त्रकारों ने इसे महावीर का गृहत्याग, संसार से विरवित आदि कहा, किन्तु वास्तव में महावीर ने एक घर, परिवार एवं नगर से निकल कर सारे देश को अपना लिया था। उनकी उपलब्धि अब प्राणि-मात्र के कल्याण के लिए समर्पित थी। इस प्रकार उन्होंने जैन-धर्म को देश और काल की सीमाओं से परे कर दिया था। इसी कारण जैन-धर्म विगत ढाई हजार वर्षों के बदलते सन्दर्भों में कहीं खो

नहीं सका है। मानव-विकास एवं प्राणी मात्र के कल्याण में उसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है।

### बदलते संदर्भ :

आज विश्व का जो स्वरूप है, सामान्यरूप में चिन्तकों को बदला हुआ नजर आता है। समाज के मानदण्डों में परिवर्तन, मूल्यों का ह्रास, अनास्थाओं की संस्कृति, कुण्ठाओं और संत्रासों का जीवन, अभाव और भ्रष्ट राजनीति, सम्प्रेषण का माध्यम, भाषाओं का प्रश्न, भौतिकवाद के प्रति लिप्सा-संघर्ष तथा प्राप्ति के प्रति व्यर्थता का बोध आदि वर्तमान युग के बदलते संदर्भ हैं। किन्तु महावीर युग के परिप्रेक्ष्य में देखें तो यह सब परिवर्तन कुछ नया नहीं लगता। इन्हीं सब परिस्थितियों के दबाव ने ही उस समय जैन धर्म एवं बौद्ध-धर्म को व्यापकता प्रदान की थी। अन्तर केवल इतना है कि उस समय इन बदलते संदर्भों से समाज का एक विशिष्ट वर्ग ही प्रभावित था। सम्पन्नता और चिन्तन के धनी व्यक्तित्व ही शाश्वत मूल्यों की खोज में संलग्न थे। शेष भीड़ उनके पीछे चलती थी। किन्तु आज समाज की हरेक इकाई बदलते परिवेश का अनुभव कर रही है। आज व्यक्ति सामाजिक प्रक्रिया में भागीदार है। और वह परम्परागत आस्थाओं—मूल्यों से इतना निरप्रेक्ष्य है, हो रहा है, कि उन किन्हीं भी सार्वजनीन जीवन मूल्यों अपनाने को तैयार है, जो उसे आज की विकृतियों से मुक्ति दिला सकें। जैन धर्म चूंकि लोकधर्म है, व्यक्ति-विकास की उसमें प्रतिष्ठा है, अतः उसके सिद्धान्त आज के बदलते परिवेश में अधिक उपयोगी हो सकते हैं।

### अहिंसा की प्रतिष्ठा सर्वोपरि :

जैन धर्म में अहिंसा की प्रतिष्ठा सर्वोपरि है। आज तक उसकी विभिन्न व्याख्याएं और उपयोग हुए हैं। वर्तमान युग में हर व्यक्ति कहीं न कहीं क्रान्तिकारी है। क्योंकि वह प्राधुनिकता के दंश को तीव्रता से अनुभव कर रहा है, वह बदलना चाहता है प्रत्येक ऐसी व्यवस्था को, प्रतिष्ठा को, जो उसके दाय को उस तक नहीं पहुँचने देती। इसके लिए उसका माध्यम बनती है हिंसा, तोड़-फोड़, क्योंकि टुकड़ों में बंटा हुआ व्यक्ति यही कर सकता है। लेकिन हिंसा से किए गए परिवर्तनों का स्थायित्व और प्रभाव इनसे छिपा नहीं है। समाज के प्रत्येक वर्ग पर हिंसा की काली छाया मंडरा रही है। अतः अब अहिंसा की ओर भुकाव अनिवार्य हो गया है। अभी नहीं तो कुछ और भुगतने के बाद हो जाएगा। आखिकार व्यक्ति विकृति से अपने स्वभाव प्रकृति में कमी तो लौटेगा।

आज की समस्याओं के संदर्भ में 'जीवों को मारना', 'मांस न खाना', आदि परिभाषाओं वाली अहिंसा बहुत छोटी पड़ेगी। क्योंकि आज तो हिंसा ने अनेक रूप धारण कर लिए हैं। परायापन इतना बढ़ गया है कि शत्रु के दर्शन किए बिना ही हम हिंसा करते रहते हैं। अतः हमें फिर जैन धर्म की अहिंसा के चिंतन में लौटना

पड़ेगा। वहाँ अहिंसा थी—‘दूसरे’ को तिरोहित करने की, मिटा देने की। कोई दुःखी है तो ‘मैं’ हूँ और सुखी है तो ‘मैं’ हूँ। अपनत्व का इतना विस्तार ही अहंकार और ईर्ष्या के अस्तित्व की जड़ें हिला सकता है, जो हिंसा के मूल कारण हैं। जैन-धर्म में इसीलिए ‘स्व’ को जानने पर इतना बल दिया गया है। आत्मज्ञान का विस्तार होने पर अपनी ही हिंसा और अपना अहित कौन करना चाहेगा ?

**मुझसे छोटा कोई न हो :**

जैन धर्म की अहिंसा की भूमिका वर्तमान युग की अन्य समस्याओं का भी उपचार है। अपरिग्रह का सिद्धान्त इसी का विस्तार है। किन्तु अपरिग्रह को प्रायः गलत समझा गया है। अपरिग्रह का अर्थ गरीबी या साधनों का अभाव नहीं है। जैन धर्म ने गरीबी को कभी स्वीकृति नहीं दी। वह प्रत्येक क्षेत्र में पूर्णता का पक्ष-धर है। महावीर का अपरिग्रह दर्शन आज की समाजवादी चिंतन से काफी आगे है। इस युग के समाजवाद का अर्थ है—मुझसे बड़ा कोई न हो। सब मेरे बराबर हो जायें। किसी भी सीमित साधनों और योग्यता वाले व्यक्ति अथवा देश को इस प्रकार की बराबरी लाना बड़ा मुश्किल है। जैनधर्म के अपरिग्रह का चिन्तन है—मुझ से छोटा कोई न हो। अर्थात् मेरे पास जो कुछ भी है वह सबके लिए है। परिवार; समाज व देश के लिए है। यह सोचना व्यावहारिक हो सकता है। इससे समानता की अनुभूति की जा सकती है। केवल नारा बनकर अपरिग्रह नहीं रहेगा। वह व्यक्ति से प्रारम्भ होकर आगे बढ़ता है, जबकि समाजवाद व्यक्ति तत्काल पहुँचता ही नहीं है। अपरिग्रह सम्पत्ति के उपभोग की सामान्य अनुभूति का नाम है, स्वामित्व का नहीं। अतः विश्व की भौतिकता उतनी भयावह नहीं है, उसका जिस ढंग से उपयोग हो रहा है, समस्याएं उससे उत्पन्न हुई हैं। अपरिग्रह की भावना एक और जहाँ आपस की छीना-भूषटी, संचय-वृत्ति आदि को नियंत्रित कर सकती है, दूसरी ओर भौतिकता से परे आध्यात्म को भी इससे बल मिलेगा।

**वैचारिक उदारता :**

विश्व में जितने झगड़े अर्थ और भौतिकवाद को लेकर नहीं हैं, उतने आपस की आपसी-विचारों की तनातनी के कारण हैं। हर व्यक्ति अपनी बात कहने की धुन में दूसरे की कुछ सुनना ही नहीं चाहता। पहले शास्त्रों की बातों को लेकर वाद-विवाद तथा आध्यात्मिक स्तर पर मतभेद होते थे। आज के व्यक्ति के पास इन बातों के लिए समय ही नहीं है। रिक्त हो गया है वह शास्त्रीय-ज्ञान से। किन्तु फिर भी वैचारिक-मतभेद है। अब उनकी दिशा बदल गई है। अब सीमा-विवाद पर झगड़े हैं, नारों की शब्दावली पर तनातनी है, लोकतंत्र की परिभाषाओं पर गरमा-गरमी है। साहित्य के क्षेत्र में हर पढ़ने-लिखने वाला अपने मानदण्डों की स्थापनाओं में लगा हुआ है। भाषा के माध्यम को लेकर लोग खेमों में विभक्त हैं। ऐसी स्थिति में जैन धर्म या किसी भी धर्म की भूमिका क्या हो, कहना कठिन है। किन्तु जैन धर्म

के इतिहास से एक बात अवश्य सीखी जा सकती है कि उसने कभी भाषा को धार्मिक बाना नहीं पहिनाया। जिस युग में जो भाषा संप्रेषण का माध्यम थी उसे उसने तभी अपना लिया और इतिहास साक्षी है, जैन धर्म की इससे कोई हानि नहीं हुई है। अतः सम्प्रेषण के माध्यम की सहजता और सार्वजनीनता के लिए वर्तमान में किसी एक सामान्य भाषा को अपनाया जाना बहुत जरूरी है। मतभेद में सामञ्जस्य एवं शालीनता के लिए अनेकान्तवाद का विस्तार किया जा सकता है, क्योंकि बिना वैचारिक उदारता को अपनाये ग्रहिसा और अपरिग्रह आदि की सुरक्षा नहीं है।

### जैन धर्म की आधुनिकता :

सूक्ष्मता से देखा जाय तो वर्तमान युग में जैन धर्म के अधिकांश सिद्धांतों की व्यापकता दृष्टिगोचर होती है। ज्ञान-विज्ञान और समाज-विकास के क्षेत्र में जैन धर्म की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। आधुनिक विज्ञान ने जो हमें निष्कर्ष दिए हैं—उनसे जैन धर्म के तत्त्वज्ञान की अनेक बातें प्रमाणित होती जा रही हैं। वैज्ञानिक अध्ययन के क्षेत्र में द्रव्य की 'उत्पादव्ययप्रौढ्ययुक्तसत्' की परिभाषा स्वीकार हो चुकी है। जैन धर्म की यह प्रमुख विशेषता है कि उसने भेद-विज्ञान द्वारा जड़-चेतन को सम्पूर्णता से जाना है। आज का विज्ञान भी निरन्तर सूक्ष्मता की ओर बढ़ता हुआ सम्पूर्णता को जानने की अभीप्सा रखता है।

वर्तमान युग में अत्यधिक आधुनिकता का जोर है। कुछ ही समय बाद वस्तुएं रहन-सहन के तरीके, साधन, उनके सम्बन्ध में जानकारी पुरानी पड़ जाती है। उसे भुला दिया जाता है, नित नये के साथ मानव फिर जुड़ जाता है। फिर भी कुछ ऐसा है, जिसे हमेशा से स्वीकार कर चला जा रहा है। यह सब स्थिति और कुछ नहीं, जैन धर्म द्वारा स्वीकृत जगत् की वस्तु स्थिति का समर्थन है। वस्तुओं के स्वरूप बदलते रहते हैं, अतः अतीत की पर्यायों को छोड़ना, नयी पर्यायों के साथ जुड़ना यह आधुनिकता जैन धर्म के चिन्तन की ही फलश्रुति है। नित नयी क्रांतियां, प्रगतिशीलता, फैशन आदि वस्तु की 'उत्पादन' शक्ति की स्वामाविक परिणति मात्र है। कला एवं साहित्य के क्षेत्र में अग्रतंता एवं प्रतीकों की ओर भ्रूकाव. वस्तु की पर्यायों को मूल कर शाश्वत सत्य को पकड़ने का प्रयत्न है। यथार्थ, वस्तु स्थिति में जीने का प्राग्रह 'यथार्थं श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' के अर्थ का ही विस्तार है।

### स्वतंत्रता का मूल्य :

आज के बदलते संदर्भों में स्वतंत्रता का मूल्य तीव्रता से उभरा है। समाज की हर इकाई अपना स्वतंत्र अस्तित्व चाहती है। प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकार एवं कर्तव्यों में किसी का हस्तक्षेप नहीं चाहता। जनतांत्रिक शासनों का विकास इसी व्यक्तिगत स्वतंत्रता के आधार पर हुआ है। भगवान् महावीर ने स्वतंत्रता के इस सत्य को बहुत पहले घोषित कर दिया था। जैन धर्म न केवल व्यक्ति को अपितु प्रत्येक वस्तु के स्वरूप को स्वतंत्र मानता है। इसलिए उसकी मान्यता है कि व्यक्ति

स्वयं अपने स्वरूप में रहे और दूसरों को उनके स्वरूप में रहने दे। यही सच्चा लोकतंत्र है। एक दूसरे के स्वरूपों में जहाँ हस्तक्षेप हुआ, वहीं बलात्कार प्रारम्भ हो जाता है, जिससे दुःख के सिवाय और कुछ नहीं मिलता।

वस्तु और चेतन की इसी स्वतंत्र सत्ता के कारण जैन धर्म किसी ऐसे नियन्ता को अस्वीकार करता है, जो व्यक्ति के सुख-दुःख का विधाता हो। उसकी दृष्टि में जड़-चेतन के स्वाभाविक नियम (गुण) सर्वोपरि हैं। वे स्वयं अपना भविष्य निमित्त करेंगे। पुरुषार्थी बनेंगे। युवा शक्ति की स्वतंत्रता के लिए छटपटाहट इसी सत्य का प्रतिफलन है। इसीलिए आज के विश्व में नियम स्वीकृत होते जा रहे हैं, नियन्ता तिरोहित होता जा रहा है। यही शुद्ध वैज्ञानिकता है।

### दायरों से मुक्त-उन्मुक्त :

वस्तु एवं चेतन के स्वभाव को स्वतंत्र स्वीकारने के कारण जैन धर्म ने चेतन सत्ताओं के क्रम-भेद को स्वीकार नहीं किया। शुद्ध चैतन्य गुण समान होने से उसकी दृष्टि में सभी व्यक्ति समान हैं। ऊँच-नीच, जाति, धर्म आदि के आधार पर व्यक्तियों का विभाजन जैन धर्म को स्वीकार नहीं है। इसीलिए उसमें वर्गविहीन समाज की बात कही गई है। प्रतिष्ठानों को अस्वीकृत कर जैन तीर्थंकर जन-सामान्य में आकर मिल गये थे। यद्यपि उनकी इस बात को जैन धर्म को मानने वाले लोग अधिक दिनों तक नहीं निभा पाये। भारतीय समाज के ढाँचे से प्रभावित हो जैन धर्म वर्गविशेष का होकर रह गया था, किन्तु आधुनिक युग के बदलते सन्दर्भ जैन धर्म को क्रमशः आत्मसात् करते जा रहे हैं। वह दायरों से मुक्त हो रहा है। जैन धर्म अब उनका नहीं रहेगा जो परम्परा से उसे ढो रहे हैं। वह उनका होगा, जो वर्तमान में उसे जी रहे हैं, चाहे वे किसी जाति, वर्ग या देश के व्यक्ति हों।

### नारी स्वातंत्र्य :

वर्तमान युग में दो बातों का और जोर है—नारी स्वातंत्र्य और व्यक्तिवाद की प्रतिष्ठा। नारी स्वातंत्र्य के जितने प्रयत्न इस युग में हुए हैं संभवतः उससे भी अधिक पुरजोर शब्दों में नारी स्वातंत्र्य की बात महावीर ने अपने युग में कही थी। धर्म के क्षेत्र में नारी को आचार्य पद की प्रतिष्ठा देने वाले वे पहले चिंतक थे। जिस प्रकार पुरुष का चैतन्य अपने भविष्य का निर्माण करने की शक्ति रखता है, उसी प्रकार नारी की आत्मा भी। अतः आज समान अधिकारों के लिए संघर्ष करती हुई नारी अपनी चेतनता की स्वतंत्रता को प्रामाणिक कर रही है। जैनधर्म भी चेतना के विकास के मार्ग में नारी को सक्षम मानता है। संस्कार-निर्माण में उसकी ग्रहण भूमिका स्वीकार करता है।

### व्यक्तित्व का विकास :

जैन धर्म में व्यक्तित्व का महत्त्व प्रारम्भ से ही स्वीकृत है। व्यक्ति जब तक अपना विकास नहीं करेगा वह समाज को कुछ नहीं दे सकता। जैनधर्म के तीर्थंकर

स्वयं सत्य की पूर्णता तक पहले पहुँचे तब उन्होंने समाज को उद्बोधित किया। आज के व्यक्तिवाद में व्यक्ति भीड़ से कटकर चलना चाहता है। अपनी उपलब्धि में वह स्वयं को ही पर्याप्त मानता है; जैन धर्म की साधना, तपश्चरण की भी यही प्रक्रिया है—व्यक्तित्व के विकास के बाद सामाजिक उत्तरदायित्वों को निबाहना।

### सामाजिकता का बोध :

जैन धर्म सम्यग्दर्शन के आठ अंगों का विवेचन है। गहराई से देखें तो उनमें से प्रारम्भिक चार अंग व्यक्ति विकास के लिए हैं और अंतिम चार सामाजिक दायित्वों से जुड़े हैं। जो व्यक्ति निर्भयी (निशंकिन), पूर्ण सन्तुष्ट (निःकांक्षित), देहगत बासनाओं से परे (निर्विचिकित्सक) एवं विवेक से जागृत (अमूढदृष्टि) होगा वही स्वयं के गुणों का विकास कर सकेगा (उपवृंहण), पथभ्रष्टों को रास्ता बता सकेगा (स्थिरीकरण), सहधर्मियों के प्रति सौजन्य-वात्सल्य रख सकेगा तथा जो कुछ उसने अर्जित किया है, जो शाश्वत और कल्याणकारी है, उसका वह जगत् में प्रचार कर सकेगा। इस प्रकार जैन धर्म अपने इतिहास के प्रारम्भ से ही उन तथ्यों और मूल्यों का प्रतिष्ठापक रहा है, जो प्रत्येक युग के बदलते सन्दर्भों में सार्थक हों तथा जिनकी उपयोगिता व्यक्ति और समाज दोनों के उत्थान के लिए हो। विश्व की वर्तमान समस्याओं के समाधान हेतु जैन धर्म के महापुरुषों की वाणी की महत्वपूर्ण हो सकती है, बशर्ते उसे सही अर्थों में समझा जाय, स्वीकार जाय।



## पर्यावरण—सन्तुलन और जैनधर्म

### 1. मनुष्य और प्रकृति :

मनुष्य के जीवन को जो चारों तरफ से घेरे हुए है उस वन-सम्पदा, पशु-सम्पदा, खनिज-सम्पदा, जल-समूह एवं वायुमण्डल के समन्वित आवरण का नाम है—पर्यावरण। इसे इस युग में नया नाम दिया गया है—परिस्थिति-विज्ञान (इँकालाजी) व्यक्ति जब अपने को केन्द्र में रखकर पंचभूतों—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश के सम्बन्ध में अध्ययन करता है तो वह इन्हें पर्यावरण के नाम से अभिहित करता है। किन्तु जब भौतिकविज्ञान एवं भौगोलिक दृष्टि से सम्पूर्ण इकाई का विवेचन करने की अपेक्षा हो तो यह सब प्रकृति के नाम से जाना जाता है। वस्तुतः सम्पूर्ण प्रकृति और मनुष्य के सम्बन्धों का अध्ययन करना ही पर्यावरण का क्षेत्र है। इस पर्यावरण की शुद्धता और स्वस्थता पर ही मनुष्य का अस्तित्व एवं विकास निर्भर है। इसीलिए मनुष्य अपने लाभ के लिए ही सही पर्यावरण को शुद्ध रखने की दिशा में अब चिंतनशील हुआ है।

मनुष्य और प्रकृति का सम्बन्ध मनुष्य के प्रारम्भिक विकास के साथ जुड़ा हुआ है। अरण्य सस्कृति से ही इस देश का विकाश पनपा है। जल से वनस्पति, वनस्पति से वन और वनों से आदि मानव ने सभ्यता के कई चरण आगे बढ़ाये हैं। वनवासी मानव ने प्रारम्भ से ही प्रकृति के विभिन्न उपकरणों को अपने ऊपर वात्सल्य एवं सुविधाएं देते हुए देखा है। अतः वह प्रकृति का आभार प्रारम्भ से ही मानता रहा है। उसका उपासक बनकर मानव ने प्रकृति को शक्ति और प्रेरण का स्रोत माना है। वैदिक ऋषि पूरी सृष्टि को प्रेम और भयनाती की दृष्टि से देखते रहे हैं। उस वनवासी सभ्यता में मानव और प्रकृति के विभिन्न रूप एक ही परिवार के अंग रहे हैं। छान्दोग्य-उपनिषद में कहा गया है कि एक को जान लेने से सबको जाना जा सकता है— 'एकेन विज्ञानेन सर्वदूदं विज्ञानं भवति'। यह 'एक' आत्मरूपी परम तत्त्व भी हो सकता है और प्रकृति भी। दोनों के संवेदन और अन्तरहस्य में कोई अन्तर नहीं है। मनुष्य और प्रकृति की तादात्म्यवृत्ति महावीर और बुद्ध के

युग तक पूर्णरूपेण स्वीकृत रही है। तमी जैन आगमों में कहा गया है—‘जो एगं जाणइ सो सध्व जाणइ’ जिसने एक प्रकृति (स्वभाव) को जान लिया उसने सारे विश्व को जान लिया।

प्रकृति और मनुष्य के सम्बन्ध को प्राकृत आगमों में सूक्ष्मता के साथ प्रतिपादन किया गया है। डॉ. जे. सी. सिकंदर ने जैन ग्रन्थों में प्राप्त वनस्पतिशास्त्र का अध्ययन प्रस्तुत किया है। आचारांग में वनस्पति और मनुष्य की सूक्ष्म तुलना करते हुए कहा गया है कि दोनों का जन्म होता है, वृद्धि होती है, चेतनता है, काटने में म्लानता आती है। ग्राहण-ग्रहण करने की प्रक्रिया दोनों की समान है। इसी तरह की अनेक अवस्थाएँ वनस्पति और मनुष्य में समान हैं। अतः वनस्पति भी मनुष्य से कम मूल्यवान नहीं है। वनस्पति और वृक्ष मानव जीवन के मूलाधार हैं। उनसे वह जीवन की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है। इसी सत्य का प्रतिपादन कल्पवृक्ष की अवधारणा से होता है। कल्पवृक्ष की मान्यता का आधार है कि प्रकृति मनुष्य को जीवन देने वाली है। इस सत्य का उद्घाटन विश्व में पाये जाने वाले अनेक उपयोगी वृक्ष आज भी कर रहे हैं। इन्द्र टिकेकर की सम्पादित पुस्तिका ‘पानी और पेड़ों में जीवन’ इस विषय में विशेष प्रकाश डालती है। ‘द सीक्रेट लाइफ ऑफ प्लान्ट्स’ के लेखकों ने यह सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य से भी सूक्ष्म तीव्र संवेदशीलता पौधों के पास है। उसे विकसित करने की आवश्यकता है। अंक गणित करने वाला वृक्ष, दूध देने वाला ‘काठ ट्री’ वृक्ष, डीजल-ट्री, गैस-ट्री आज अनेक नाम ऐसे पौधों को दिये गये हैं, जो मनुष्य की हर आवश्यकता की पूर्ति कर सकते हैं।

## 2. प्रदूषण—सबकी समस्या :

आज का विश्व तीन प्रमुख समस्याओं से जूझ रहा है। जो देश विकसित है, जिन्होंने वस्तुओं के संग्रह और यन्त्रों के निर्माण को ही विकास का पर्याय माना है, वे युद्ध की समस्या से त्रस्त हैं। क्योंकि विकसित देशों के पास अब विकास करने के लिए कुछ बचा नहीं है। उन्होंने अपने सब कच्चे माल का दोहन कर लिया है। अतः उनकी आपसी प्रतिस्पर्धा उन्हें युद्ध का चिन्तन दे रही है। विकासशील देशों ने अपने विकास का पमाना विकसित देशों की तथाकथित समृद्धि को मान रखा है। अतः वे अपने देशों की जनसंख्या वृद्धि, गरीबी और भूख की समस्या के हल के लिए प्रकृति के साथ खिलवाड़ कर रहे हैं। कृत्रिम साधनों से तुरन्त धनी देश बनने के सपने विकासशील देश देख रहे हैं। कृषि अब उनके लिए संस्कृति नहीं, व्यापार हो गयी है। किन्तु तीसरी समस्या सारे विश्व की समस्या है। वह है—प्रदूषण, जिससे सबने मिलकर पंदा किया है। भोगवादी संस्कृति ने प्रदूषण को जन्म दिया है। प्रकृति को वस्तु मानने से हमने उसका दुरुपयोग किया। उसके स्वाभाविक सतुलन को बिगाड़ दिया : अतः अब जल का प्रदूषण हमारे प्राण ले रहा है। वायु इतनी



दूषित हो गयी कि सांस लेना दूभर हो गया है। घरती के प्रदूषण ने मूमि की उर्वरक शक्ति को छीन लिया है। कीट-नाशक दवाओं ने प्राणियों के स्वभाव बदल दिये हैं। उद्योगों के धुंए ने आकाश को मैला कर दिया एवं जल में जहर घोल दिया है। इन सब प्रदूषणों ने व्यक्ति के हृदय, मन और चरित्र को बदल दिया है। अतः अन्न परिवर्तन की प्रक्रिया धर्म के खजाने से ही आ सकती है। मन, वचन, कर्म को दूषण से बचाना होगा तब बाहरी प्रदूषण रुकेगा। मनुष्य जब तक अपने स्वभाव में नहीं लौटता और प्रकृति को स्वाभाविक नहीं रहने देता, तब तक प्रदूषण की समस्या का हल नहीं मिलेगा।

### 3. बहू-आयामी धर्म :

पर्यावरण के साथ धर्म के सम्बन्ध को स्थापित करने के लिए धर्म के वास्तविक स्वरूप को जानना होगा, जो प्राणीमात्र के लिए कल्याणकारी हो। वैदिक युग के साहित्य से ज्ञात होता है कि धर्म का जन्म प्रकृति से ही हुआ है। प्रकृति शक्तियों को अपने से श्रेष्ठ मानकर मानव ने उन्हें श्रद्धा, उपहार एवं पूजा देना प्रारम्भ किया। वहीं से वह आत्मशक्ति को पहिचानने के प्रयत्न में लगा। प्रकृति, शरीर, आत्मा एवं परमात्मा इस क्रमिक ज्ञान से धर्म का स्वरूप विकसित हुआ। भारतीय परम्परा में धर्म जीवन-यापन की एक प्रणाली है, केवल बौद्धिक विकास नहीं है; अतः जीवन का धारक होना धर्म की पहली कसौटी है। चूंकि जीवन एवं प्राण सूक्ष्म से सूक्ष्म प्राणी में भी विद्यमान हैं। अतः उन सबकी रक्षा करने वाली जो प्रकृति है, वही धर्म है। महाभारत के कर्णपर्व में कहा गया है कि समस्त प्रजा का जिससे संरक्षण हो वह धर्म है। यह प्रजा पूरे विश्व में व्याप्त है। अतः विश्व को जो धारण करता है, उसके अस्तित्व को सुरक्षित करने में सहायक है, वह धर्म है—‘धरति विश्वं इति धर्मः’ : महाभारत की यह उक्ति बड़ी सार्थक है। महर्षि कणाद ने धर्म के विधायक स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है कि धर्म उन्नति और उत्कर्ष को प्रदान करने वाला है—‘यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धि स धर्मः’। उन्नति और उत्कर्ष का मार्ग स्पष्ट करते हुए धर्म के अन्तर्गत श्रद्धा, मंत्रो, दया, संतोष, सत्य क्षमा आदि सद्गुणों के विक्राम को भी सम्मिलित किया गया है।

धर्म के स्वरूप को प्रतिपादित करते हुए जैन आगमों में एक महत्त्वपूर्ण गाथा कही गयी है—

धम्मो वत्थुसहावो खमादिभावो य दसविहो धम्मो ।

रयणत्तय च धम्मो, जीवाणंरक्खण धम्मो ॥

वस्तु का स्वभाव धर्म है, क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि दस आत्मा के भाव धर्म हैं, रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यग्चारित्र्य) धर्म है तथा जीवों का रक्षण करना धर्म है। धर्म की यह परिभाषा जीवन के विभिन्न पक्षों को समुन्नत करने

वाली है। पर्यावरण की शुद्धता के परिप्रेक्ष्य में इस प्रकार के धर्म की बड़ी सार्थकता है।

#### 4. धर्म नाम स्वभाव का :

वस्तु के स्वभाव को धर्म कहना बड़ी असांप्रदायिक घोषणा है धर्म के सम्बन्ध में। कोई जाति, कोई व्यक्ति, किसी शास्त्र, किसी देश या विचारधारा का इस परिभाषा में कोई बन्धन नहीं है। विश्व की जितनी वस्तुएँ हैं, उनके मूल स्वभाव को जान लेना, उन्हें अपने-अपने स्वभाव में ही रहने देना सबसे बड़ा धर्म है। हमारे शरीर का स्वभाव है—जन्म लेना, वृद्धि करना, और समय आने पर नष्ट हो जाना इत्यादि। किन्तु जब हम इससे भिन्न शरीर से अपेक्षा करने लगते हैं तो हम अधर्म की ओर गमन करते हैं। शरीर को अधिक सुख देकर उसे अमर बनाना चाहते हैं। बाहरी प्रसाधनों से सजाकर उसकी भीतरी अशुचिता से मुख मोड़ना चाहते हैं। अपने शरीर के सुख के लिए दूसरों के शरीर को समय से पहले नष्ट कर देना चाहते हैं तो इससे शोषण पनपता है, क्रूरता जन्म लेती है, विलासता बढ़ती है और हम अधार्मिक हो जाते हैं।

जो हमने शरीर के स्वभाव को समझने में भूल की वही प्रकृति को समझने में करते हैं। प्रकृति के प्राणतत्व का संवेदन हमने अपनी आत्मा में नहीं किया। हम यह नहीं जान सके कि वृक्ष हमसे अधिक करुणावान् एवं परोपकारी हैं। हमने घरती की बे धड़कने नहीं सुनीं जो उसका खनन करते समय उससे निकलती है। प्रकृति का स्वभाव जीवन्त सुलभ संतुलन बनाये रखने का है, उसे हम धनदेखा कर गये। हमने प्रकृति को केवल वस्तु मान लिया, लेकिन वस्तु का स्वभाव क्या है, यह जानने की हमने कभी कोशिश नहीं की। परिणामस्वरूप हमने अपने क्षणिक सुख और अमर्यादित लालच की तृप्ति के लिए प्रकृति को रौंद डाला। उसे क्षत-विक्षत कर दिया। उसका परिणाम हमारे सामने है। जैसे मनुष्य जब अपने स्वभाव को खो देता है तब वह क्रोध करता है, विनाश की गतिविधियों में लिप्त होता है। वैसे ही स्वभाव से रहित की गयी प्रकृति आज अनेक समस्याएँ पैदा कर रही है।

शरीर, प्रकृति एवं अन्य भौतिक वस्तुओं के स्वाभाव की जानकारी के साथ यदि व्यक्ति आत्मा के स्वभाव को भी जानने का प्रयत्न करे तो वस्तुओं को संग्रह करने एवं उनमें घासक्ति की भावना धीरे-धीरे कम हो जायेगी। क्योंकि ये सब वृत्तियाँ भयभीत, अमुरक्षित, अज्ञानी व्यक्ति भी निर्बलता के कारण उत्पन्न हुई हैं। जब मानव को यह पता चल जाय कि उसकी आत्मा स्वयं सभी शक्तियों से युक्त है, उसे बाहर की कोई शक्ति सहारा नहीं दे सकती और न ही आत्मा को कोई

नुकसान पहुँचा सकता है तब मानव स्वयं निर्भय बन जायेगा, आत्मनिर्भर बन जायेगा। फिर उसे वस्तुओं के डेर और शस्त्रों के संग्रह की क्या आवश्यकता ? जो व्यक्ति अपनी आत्मा के स्वभाव को जान लेगा कि वह दयालु है जीवन्त है, निर्भय है तब वह यह भी जान जायेगा कि विश्व के सभी प्राणियों का स्वभाव यही है। तब अपनी आत्मा जैसे कीमती एवं उपयोगी प्राणियों की हत्या, दमन, शोषण करने की क्या आवश्यकता है। इस समता के भाव से ही क्रूरता मिट सकती है। आत्मा के इसी स्वभाव को जानने के लिए क्षमा, मृदुता, सरलता, पवित्रता, सत्य, संयम, तप, त्याग निस्पृहीभूति, ब्रह्मचर्य इन दस प्रकार के आत्मिक गुणों को जानने को धर्म कहा गया है। इन गुणों की साधना से आत्मा और जगत् के वास्तविक स्वभाव के दर्शन हो सकते हैं। इसी स्वभावरूपी चादर के सम्बन्ध में संत कबीर ने कहा है—

या चादर को सुर-नर-मुनि ओढ़ी

ओढ़ के मैली कीनी ।

दास कबीर जतन कर ओढ़ी

ज्यों की त्यों धर दीनी ॥

### 5. जतन की चादर :

विश्व के चेतन, अचेतन सभी पदार्थों के आवरण से देवता, मनुष्य, ज्ञानीजन सभी व्याप्त रहते हैं। पर्यावरण की चादर उन्हें ढके रहती है। किन्तु भ्रजानी जन, अपने स्वभाव को न जानने वाले अधार्मिक, उस प्रकृति की चादर को मैली कर देते हैं। अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए पर्यावरण को दूषित कर देते हैं। किन्तु कबीर जैसे स्वभाव को जानने वाले धार्मिक संसार के सभी पदार्थों के साथ जतन (यत्न-पूर्वक) का व्यवहार करते हैं। न अपने स्वभाव को बदलने देते हैं और न ही पर्यावरण और प्रकृति के स्वभाव में हस्तक्षेप करते हैं। प्रकृति के संतुलन को ज्यों का त्यों बनाये रखना ही परमात्मा की प्राप्ति है। तभी साधक कह सकता है—‘ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया’। अपने स्वभाव में लीन होना ही स्वस्थ होना है। जब पर्यावरण स्वस्थ होगा तब प्राणियों का जीवन स्वस्थ होगा। स्वस्थ जीवन ही धर्म-साधना का आधार है। अतः स्वभावरूपी धर्म पर्यावरण-शोधन का मूलभूत उपाय है, साधन है तो आत्म-साक्षात्कार रूपी धर्म विशुद्ध पर्यावरण का साध्य है, उद्देश्य है। कबीर ने जिसे ‘जतन’ कहा है, जैनदर्शन के चितकों ने हजारों वर्ष पूर्व उसे यत्नाचार-धर्म के रूप में प्रतिपादित कर दिया था। उनका उद्घोष था कि संसार में चारों ओर इतने प्राणी, जीवन्त प्रकृति भरी हुई है कि मनुष्य जीवन की

आवश्यकताओं की पूर्ति करते समय उनके घात-प्रतिघात से बच नहीं सकता। किन्तु यह प्रयत्न (जतन) तो कर सकता है कि उसके जीवन-यापन के कार्यों में कम से कम प्राणियों का घात हो। उसकी इस अहिंसक भावना से ही करोड़ों प्राणियों को जीवनदान मिल जाता है। प्रकृति का अधिकांश भाग जीवन्त बना रह सकता है। आचार्य ने कहा है—

जयं चरे जयं चिदृ जयमासे जयं सये ।

जय भुजेज्ज भासेज्ज एव पावं ण वज्झई ॥

‘व्यक्ति यत्न-पूर्वक चले, यत्नपूर्वक ठहरे, यत्नपूर्वक बंठे, यत्नपूर्वक सोए, यत्नपूर्वक भोजन करे और यत्नपूर्वक बोले तो इस प्रकार के जीवन से वह पाप-कर्म को नहीं बाँधता है।’

चलने, ठहरने, बैठने और सोने की क्रियाओं का धरती के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन क्रियाओं को यदि विवेकपूर्वक और आवश्यकता के अनुसार सीमित नहीं किया जाता तो सारे संसार की हिंसा इनमें समा जाती है। दो गज जमीन की आवश्यकता के लिए पूरा विश्व ही छोटा पड़ने लगता है। ये क्रियाएँ फिर हमारी आँखों के दायरे से बाहर होती हैं। अतः उनके लिए की गयी हिंसा, बेईमानी और शोषण इन्हें दिखता नहीं है, या हम उसे नजर-अंदाज कर देते हैं। अपना पाप दूसरे पर लाद देते हैं। इससे पर्यावरण के सभी घटक दूषित हो जाते हैं। धरती की सारी खनिज-सम्पदा हमारे ठहरने और सोने के सुख के लिए बलि चढ़ जाती है। दूसरी महत्त्वपूर्ण क्रिया भोजन की है। आचार्य कहते हैं यत्नपूर्वक भोजन, करो। इस सूत्र में अल्प भोजन, शुद्ध भोजन, शाकाहार आदि सभी के गुण समाये हुए हैं। भोजन प्राप्ति में जब तक अपना स्वयं का श्रम एवं साधन की शुद्धता सम्मिलित न हो तब तक वह यत्नपूर्वक भोजन करना नहीं कहलाता है। व्यक्ति यदि इतनी सावधानी अपने भोजन में कर ले तो अतिभोजन और कुभोजन की समस्या समाप्त हो सकती है। पौष्टिक, शाकाहार भोजन का प्रचार यत्नपूर्वक भोजन दृष्टि से ही व्यापक किया जा सकता है। इससे कई प्रकार के स्वास्थ्य प्रदूषणों को रोका जा सकता है। यत्नपूर्वक वचन-प्रयोग करने की नीति जहाँ व्यक्ति को हित-मित और प्रिय बोलने के लिए प्रेरित करती है, वहीं इससे ध्वनि-प्रदूषण को रोकने में भी मदद मिल सकती है। प्राचीन साधकों की इस यत्नपूर्वक (प्रमाद-रहित) जीवन पद्धति को आधुनिक मनीषियों ने भी बाणी दी है एवं लोक-जीवन ने उसे आत्मसात् कर अपने उद्गार व्यक्त किये हैं, बंगला कहावत में कहा गया है—

पचे सोई खाइबो, रुचे सोई बोलिबो

### 6. आत्मालोचन से शुद्धि :

प्रदूषण का अर्थ है किसी स्वाभाविक वस्तु में विकार आ जाना। असली में मकली वस्तु का, तत्त्व का मिल जाना अथवा शुद्ध वस्तु का अशुद्ध हो जाना। मिलावट की वह प्रक्रिया शरीर में, प्रकृति में एवं आत्मा के स्वभाव में कर्मों के रजकरणों के द्वारा, दूषित वृत्तियों ( कषायों ) के द्वारा निरन्तर होती रहती है। 'कषाय' जैनदर्शन का लाक्षणिक शब्द है। यही संसार-भ्रमण एवं कर्म-परम्परा का मूल कारण है। 'कषाय' का अर्थ ही है—मटमैला, अशुद्ध। इसको शुद्ध करना ही रत्नत्रय की साधना का उद्देश्य है। शुद्धिकरण की इस प्रक्रिया के विकास में जैन साधना-पद्धति में एक आलोचना-पाठ बहुत प्रचलित है, जिसके द्वारा श्रद्धालु श्रावक अपने द्वारा किये किये प्रदूषणों के प्रति स्वयं की आलोचना करता है और उन्हें आगे न करने की प्रतिज्ञा करता है—

#### 'कल्ल' शुद्ध आलोचना, शुद्धिकरण के काज'

कवि जीहरीलाल ने इस आलोचना पाठ में जीवन में प्रमादवश जितने हिंसा, असत्य, चोरी, अज्ञान, परिग्रह, क्रूरता, लोभ आदि के अनुचित कार्य हो जाते हैं उनकी आलोचना की है और कहा है कि हम अपने स्वभाव को मूल कर विभाव का आचरण करते हैं इसलिए हम परम पद को नहीं पाते हैं। 'जतन' की स्वीकृति देते हुए कहा गया है—

किय आहार निहार बिहारा, इनमें नहिं 'जतन' विचारा ।

बिन देखी धरि उठाई, बिन सोधि वसत जु खाई ॥

इतनी सावधानी की चिन्ता यदि गृहस्थ जीवन में धार्मिक व्यक्ति करने लग जाये तो उसकी कथनी-करनी का अन्तर मिट जाय। वनस्पति की रक्षा की भावना उसके मन में है। किन्तु स्वार्थ और दयाहीनता के कारण उसने हरियाली को उजाड़ दिया। अतः अपने को वह अपराधी मानता है—

हा हा मैं अदयाचारी, बहु हरितकाय जो विदारी ।

जल-प्रदूषण का भागीदार होने का उसे आभास है। वह कहता है—

जलमल मोरिन गिरवायो, कृमि-कुल बहु घात करायो ।

नक्षियन बिच चीर घुवाये, कोसन के जीव मराये ॥

आलोचना पाठ के मात्र इस पद को यदि आज उद्योग के क्षेत्र में पालन करने की अनिवार्यता हो जाय तो जल-प्रदूषण का अधिकांश भाग स्वमेव रुक जायेगा। जो धार्मिक व्यक्ति अपने दैनिक जीवन में जलचर जीवों की नक्षा की बात सोचता है वह अपने उद्योग-धन्धे में उनके विनाश की बात कैसे सोचेगा ? द्रव्य का अर्जन करना ही जीवन का लक्ष्य नहीं है। तृष्णा की खाई को कौन भर सका है ? अतः करुणा के मूल्य को प्रतिष्ठा देना ही सच्चे मानव का उद्देश्य होना चाहिए। इस आलोचनापाठ का कवि अन्त में यही कामना करता है कि यदि मैं यत्नपूर्वक अपना जीवन चलाने लग जाऊँ और 'जियो और जीने दो' के सिद्धान्त को व्यवहार में अपना लूँ तो ससार के सभी प्राणी सुखी हो सकते हैं—

सब जीवन के सुख बढ़ें, आनन्दमंगल होय।

### 7. मूल कारण और निवारण :

धर्म की परिभाषा में जो वस्तु का स्वभाव, आत्मा के क्षमा आदि गुण एवं रत्नत्रय की आराधना का निरूपण किया गया है उसको संक्षेप में प्रस्तुत करते हुए कह दिया गया कि—'जीवाणं रक्षण धर्मो'। धर्म का यह सूत्र पर्यावरण-शुद्धता के लिए बहुत उपयोगी है। क्योंकि गहरायी से देखें तो पर्यावरण को प्रदूषित करने में दो ही मूल कारण हैं—तृष्णा और हिंसा। इनके पर्यायवाची हैं—परिग्रह और क्रूरता। इनमें प्रथम साध्य है और दूसरा साधन। आश्चर्य की बात तो यह है कि हम हिंसा-निवारण की तो बात करते हैं, आन्दोलन चलाते हैं, प्रतिदिन पूजन-प्रार्थना में अहिंसा की साधना का पाठ दुहराते हैं। किन्तु परिग्रह की वृत्ति को गने लगाते हैं। परिग्रही को सम्मान देते हैं। हिंसा-निवारण या प्रदूषण-शासन में उस धन का उपयोग करना चाहते हैं, करते हैं, जो हिंसा और प्रदूषण के माध्यम से ही एकत्र किया गया है। इसी आत्मघाती विपरीत प्रक्रिया के कारण हिंसा या प्रदूषण घटने की बजाय दिनोदिन बढ़ा है।

सनीषधन की बात हजारों वर्ष पूर्व भारतीय मनीषियों ने प्रतिपादित की थी। जैनदर्शन में एक 'षट्लेश्या' का सिद्धान्त है। मनुष्य का चिन्तन जैसा होता है, वैसा ही वह कार्य करता है। एक ही प्रकार के कार्य को भिन्न-भिन्न वृत्ति वाले लोग अलग-अलग ढंग से सम्पन्न करना चाहते हैं। दृष्टांत दिया गया है कि छह लकड़हारे लकड़ी काटने जंगल में गये। दोपहर में जब उन्हें भूख लगी तो वे किसी फल के पेड़ को खोजने निकले। उन्हें एक जामुन का पेड़ दिखा जो पके फलों से लदा हुआ था। प्रथम लकड़हारे ने अपनी कुल्हाड़ी से पूरे पेड़ को काटना चाहा ताकि बाद में आराम से बैठकर जामुन खाये जा सकें। दूसरे ने एक मोटी शाखा काटना ही पर्याप्त समझा। तीसरे लकड़हारे ने सोचा शाखा काटने से क्या फायदा ? छोटी टहनियाँ काट लेना ही पर्याप्त है। चौथे ने टहनियों को नुकसान पहुँचाना ठीक नहीं समझा। उसने केवल जामुन के गुच्छों को काटना ही उचित माना। तब पाँचवें लकड़हारे

ने कहा कि कच्चे जामुन हम क्या करेंगे ? केवल पके जामुनों को ही पेड़ से तोड़ लेते हैं। छठे लकड़हारे ने सुझाव दिया कि तुम सब पेड़ के ऊपर ही क्यों देख रहे हो। जमीन पर इस पेड़ की पकी हुई इतनी जामुन पड़ी हैं कि हम सभी की भूख मिट जायेगी। हम इन्हीं को बीन लेते हैं।' सौभाग्य से उसकी बात मान ली गयी।

इन छहों व्यक्तियों के विचारों को छह रंग दिये गये हैं। प्रथम लकड़हारे के विचार सर्वनाश के द्योतक हैं अतः वह 'कृष्णलेश्या' वाला है। दूसरे से छठे तक के विचारों में क्रमशः सुधार हुआ है, सर्वकल्याण की भावना विकसित हुई है। अतः दूसरे को नीललेश्या, तीसरे को काशोत्तलेश्या, चौथे को पद्मलेश्या, पांचवें को पीतलेश्या एवं छठे लकड़हारे को शुक्ललेश्या वाला व्यक्ति माना गया है। काला, नीला, मटमैला, लाल, पीला और सफेद रंग क्रमशः विचारों की पवित्रता के द्योतक हैं। यदि भ्राज का मानव जीवन मूल्यों के माध्यम से पद्मलेश्या तक भी पहुँच जाये तो भी विश्व की प्राकृतिक सम्पदा सुरक्षित हो जाएगी। लोगों की बुनियादी आवश्यकताएँ पूरी हो जायेंगी। महात्मा गांधी ने ऐसे ही विचारों के लोगों को ध्यान में रखकर जीवन के अंतिम दिनों में कहा था—'धरती माता के पास हर एक की न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए भरपूर सम्पदा है, लेकिन चन्द लोग की लोभ-लिप्सा को सन्तुष्ट करने के लिए कुछ नहीं है।'

#### 8. साधुचर्या प्रकृति का सम्मान :

जैन दर्शन की जीवन पद्धति में ग्रहिणा, अपरिग्रह, शाकाहार, अभय आदि के अतिरिक्त कुछ अन्य बातें भी इतनी महत्त्वपूर्ण हैं, जो पर्यावरण की शुद्धता में सहायक हो सकती हैं। जैन साधु जीवन भर पंदल चलते हैं। उनकी यह पद-यात्रा प्रकृति के साथ सीधा तादात्म्य स्थापित करती है। चतुर्मास में जैन साधु एक स्थान पर रुककर प्रकृति के उल्लास का स्वागत करते हैं। उनका इष्टिकोण होता है कि वर्षा ऋतु में हरियाली, पानी, वनस्पति सब अपने विकास पर हैं। असंख्य कीड़े मकोड़े भी अपनी विश्वयात्रा पर इस समय निकलते हैं। उन सबके संचरण में विकास में मनुष्य को चाहिए कि वह अपना गमन करके बाधा न पहुँचाए। इस अवधि में वह कम से कम खाये और सादगी से रहे। वारतव में चतुर्मास सादगी की शिक्षा का त्योहार है।

जैन साधना परम्परा में गृहस्थ एवं साधु सभी प्रतिक्रमण और सामायिक की साधना करते हैं। प्रतिक्रमण का अर्थ है—अनधिकृत क्षेत्र से वापिस लौट आना। मनुष्य का मन, विचार, क्रिया वहाँ से खींच ली जायं, जहाँ वे किसी की बाधा पहुँचा रही हों। किसी के स्वभाव को विभाव में बदल रही हों। इतना अभ्यास मानव यदि प्रतिदिन करे तो वह कभी प्रदूषण का भागी नहीं हो सकता। कभी किसी के हक को वह नहीं छीन सकता। दूसरी क्रिया सामायिक की साधना है। व्यक्ति बाहर से अपने मन-वचन-कार्य को लौटाकर अपनी आत्मा के स्वभाव में

स्थिर करे। सामायिक का अर्थ है कि विषमताओं पर विजय प्राप्त की जाय। आज की सबसे बड़ी समस्या द्वन्द और विषमता की है। इसी से मनुष्य के भीतर अशान्ति है। इस अशान्ति को मनुष्य बाहरी शोरगुल से भूलना चाहता है। विश्व का ध्वनि-प्रदूषण मनुष्य के भीतर की अशान्ति का परिणाम है। यदि सामायिक द्वारा हृदय की अशान्ति, विषमता को कम किया जाय तो भागदौड़ कम होने से ध्वनि-प्रदूषण काफी हद तक कम हो सकता है। साधु-जीवन में पांच समितियों और तीन गुप्तियों द्वारा भी मन, वचन, कार्य की क्रियाओं पर संयम किया जाता है। संयम की यात्रा कोई भी हो, उससे पर्यावरण में शुद्धता आयेगी।





## महायानी आदर्श और जैनधर्म

बौद्ध धर्म एवं जैन धर्म के विकास का युग ईसा पूर्व छठी शताब्दी माना जाता है। इस समय में प्रचलित श्रमण परम्परा से भगवान् बुद्ध एवं भगवान् महावीर ने क्रमशः बौद्ध धर्म एवं जैनधर्म का विकास किया है। उन्हें व्यवस्थित रूप प्रदान किया है। महावीर द्वारा प्रचारित धर्म 'जिनों' की एक लम्बी परम्परा से विकसित हुआ था तथा उसमें इन्द्रिय-जय की प्रवृत्ति बलवती थी। अतः वह 'जैन धर्म' के नाम से जाना गया, महावीर के व्यक्तिगत नाम से नहीं किन्तु भगवान् बुद्ध द्वारा प्रचारित धर्म के केन्द्र बिन्दु स्वयं बुद्ध थे, उनकी सम्बोधि थी अतः वह धर्म 'बौद्धधर्म' के रूप में विख्यात हुआ। विकास के इस क्रम से ही ज्ञात होता है कि जैनधर्म में गुण-पूजा, चरित्र साधना प्रमुख रही, जबकि बौद्धधर्म का भुक्ताव्यक्तित्व-पूजा की ओर अधिक रहा। इस कारण उसमें आगे चलकर श्रद्धा और भक्ति की भावनाएं भी अधिक विकसित हुई हैं। महायानी बौद्धधर्म इन्हीं भावनाओं को लेकर आगे बढ़ा है।

महायानी बौद्धधर्म के उदय के सम्बन्ध में यह प्रायः कहा जाता है कि उसके आदि-पुरस्कर्ता महासंघिक बौद्धभिक्षु थे, जो संख्या की दृष्टि से बढ़े थे और जिन्होंने प्राचीन बौद्धधर्म में कुछ संशोधन स्वीकार किये थे। उनका प्रमुख केन्द्र दक्षिण भारत था। ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी तक महायानियों का दक्षिण भारत में अच्छा प्रभाव जम गया था। इसे संयोग ही कहा जा सकता है कि जैनधर्म के इतिहास में जो दो बड़े भाग हुए उनकी भी यही कहानी है। दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों का उदय जैनसंघ के दक्षिण भारत में पहुँचने के बाद ही हुआ है। विद्वानों का मत है कि देश-काल की परिस्थिति के कारण जैन साधवाचार में श्वेताम्बर सम्प्रदाय ने कुछ संशोधन स्वीकार किये। किन्तु उसका मूल जैनधर्म से सम्बन्ध कभी नहीं टूटा। बौद्धधर्म के इतिहास में हीनयान एवं महायान की भी लगभग यही स्थिति है।

महायान सम्प्रदाय के विकास में मूलतः महासंघिक भिक्षुओं के आचरण और विचार कारण रहे हैं किन्तु उसके स्वरूप-निर्माण में अन्य प्रवृत्तियों ने भी प्रभाव डाला है। विद्वानों ने तत्कालीन विभिन्न धर्मों के प्रभाव पर भी विचार किया है।

भगवद्गीता, पारसी धर्म, ग्रीक कला धर्म-प्रचार आदि कारणों पर तो विचार किया गया है।<sup>1</sup> किन्तु बौद्धधर्म के समकालीन जैनधर्म की प्रवृत्तियों पर चिन्तन नहीं किया गया। बौद्ध और जैन साधुओं की बिहार—भूमि लगभग समान रही है। उनके श्रावक भी एक-दूसरे से मिलते-जुलते रहते थे। शासकों में भी दोनों धर्मों का प्रभाव रहा है। अतः बहुत स्वाभाविक है कि जैन संघ में हो रहे परिवर्तन का प्रभाव बौद्ध-संघ पर भी पड़ा हो। भगवान् बुद्ध द्वारा प्रतिपादित मध्यमार्ग के प्रभाव के कारण जैन साधुओं के आचार के नियमों में कई अपवाद स्वीकृत हुए हैं।<sup>2</sup> बौद्ध-धर्म की महायान शाखा में बुद्ध की मूर्ति की पूजा के प्रारम्भ में यद्यपि विद्वान् ग्रीक-प्रभाव स्वीकार करते हैं किन्तु यह मूर्ति पूजा की प्रवृत्ति जैनधर्म से भी इसमें आ सकती है क्योंकि जैनधर्म में मूर्ति-पूजा की विचारधारा बहुत प्राचीन मानी गयी है।<sup>3</sup>

बौद्धधर्म के महायानी सम्प्रदाय बहुत विकसित हैं। वर्तमान में उसके स्वरूप में विविधता है किन्तु प्राचीन समय में आचार्य असंग के अनुसार महायान के निम्न प्रमुख आदर्श थे :

(1) जीव-मात्र की मुक्ति का संदेश, (2) प्राणिमात्र के लिए त्राण का विधान (3) बोधि प्राप्ति का लक्ष्य (4) बोधिसत्व की आदर्श के रूप में प्रतिष्ठा (5) बुद्ध का उपाय-कौशल्य द्वारा सार्वभौमिक उपदेश (6) बोधिसत्व की दस भूमियाँ एवं (7) बुद्ध द्वारा मनुष्य की आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति।<sup>4</sup> आगे चलकर इन आदर्शों में और विकास हुआ है। उनमें पर-विमुक्ति के लिए आत्म-विमुक्ति का उत्सर्ग महायान का प्रमुख आदर्श बन गया। संसार के दुःखी प्राणियों के लिए बोधिसत्व को परम शरण समझा जाने लगा था। महायान में तथागत का कथन मिलाता है कि “मैं जगत का पिता हूँ। मुझ में मन लगाओ। मैं तुम्हें मुक्ति दूँगा। मेरा नाम जपो।” आदि।

इन महायानी आदर्शों को देखें तो इनमें से प्रारम्भिक आदर्शों का जैनधर्म के साथ कोई विरोध नहीं है। जीव-मात्र के लिए मुक्ति के महायानि आदर्श में तो उन जीवों की मुक्ति बोधिसत्व की करुणा पर निर्भर है। जबकि जैनदर्शन ने इससे आगे बढ़कर जीव-मुक्ति की उद्घोषणा की है। वह कहता है कि प्रत्येक प्राणी मुक्ति का अधिकारी है। प्रत्येक आत्मा परमात्मा है और प्रत्येक प्राणी अपने ही पुरुषार्थ से परमात्मा बन सकता है। यह आत्म-विश्वास जगाने की बात जैनधर्म में प्रचलित थी। प्राणिमात्र को अभय प्रदान कर उसे त्राण देने की घोषणा महावीर आचारांग सूत्र में कर ही चुके थे।<sup>5</sup> हीनयानी ग्रन्थों से भी पता चलता है कि प्राणियों के हित का संकल्प तथागत को प्रायः होता रहता था।<sup>6</sup> अतः महायानी सम्प्रदाय में प्राणी-हित और प्राणी-मुक्ति का आदर्श अनायास ही नहीं आया है। उसके पीछे जैनधर्म में प्राणी-मात्र की रक्षा और उसकी मुक्ति का स्वतन्त्र मार्ग होने का उद्घोष भी एक प्रभावशाली कारण माना जा सकता है। महायान के शरणागत भक्ति और

अलौकिक आदर्शों की पृष्ठभूमि में भागवत्धर्म के प्रभाव को स्वीकारा जा सकता है ।<sup>7</sup> क्योंकि प्रारम्भिक बौद्धधर्म में इनका कोई स्थान नहीं था ।

महायानी बौद्धधर्म में आत्महित की अपेक्षा परहित, लोक-हित आदि पर विशेष बल दिया गया है । किन्तु उसके पीछे यह भावना भी रही है कि लोक-कल्याण में वही प्रवृत्त हो सकता है, जिसने इस संसार के दुःख को समझ लिया है । बोधिसत्व यदि परहित की बात करता है तो उसके पहले वह चार आर्य सत्यों और मध्यममार्ग को जीवन् में उतार चुका होता है । इतना ऊँचा उठा हुआ आत्म-साधक पर-हित का संकल्प करे तो जैनधर्म की इसमें सहमति ही होगी । जैनधर्म में भी आत्महित और पर-हित पर विस्तृत विवेचन किया गया है ।<sup>8</sup> तीर्थ-करों का प्रवचन प्राणियों के कल्याण के लिए ही होता है । निष्काम, रागद्वेष से रहित आत्म-कल्याण भी प्रकारान्तर से लोक-कल्याण ही है । जेनाचार्य समन्तभद्र ने स्पष्ट कहा है कि 'हे भगवान्! आपकी यह संघ-व्यवस्था सभी प्राणियों के दुःखों का अन्त करने वाली और सब का कल्याण करने वाली है ।'<sup>9</sup> अन्य ग्रन्थों में भी आत्म-कल्याण के साथ-साथ लोक-कल्याण की भावना व्यक्त हुई है । हीनयानी साहित्य में भी पर-कल्याण की भावना का अस्तित्व पाया जाता है । किन्तु अपनी नैतिकता के छोड़कर पर-हित करने की बात वहाँ स्वीकृत नहीं है ।<sup>10</sup>

आत्म-कल्याण की अपेक्षा पर-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर ही धमरा-परम्परा में अहिंसा की ऊँची प्रतिष्ठा है । बौद्ध-ग्रन्थों में अहिंसा की सूक्ष्म व्याख्या देखने को मिलती है । संयुक्तनिकाय में उल्लेख है कि राजा प्रमेनजित् से भगवान् बुद्ध ने कहा था, राजन्! तुम्हें अपने से प्यारा अन्य कोई भी प्राणी नहीं मिलेगा । जैसे तुम्हें अपना जीवन प्रिय है, वैसे ही दूसरों को भी अपना जीवन प्रिय । अतः जो अपनी मलाई चाहते हैं, वे दूसरों को कभी भी नहीं सताते हैं ।<sup>11</sup> अन्यत्र कहा गया है कि 'जैसा मैं हूँ, वैसे ही विश्व के सभी प्राणी हैं और जैसे वे सभी प्राणी हैं उसी प्रकार मैं भी हूँ ।' इस प्रकार अपने समान सभी प्राणियों को समझकर न किसी का वध करे न दूसरे से वध करायें ।<sup>12</sup> अन्य प्राणियों को अपने समान समझना' यह जैनधर्म का मूल-मन्त्र है । वहाँ अहिंसा को समता के साथ जोड़ दिया गया है । जैसे हम जीना चाहते हैं, वैसे ही अन्य जीवों को जीने का अधिकार है । कोई मरना नहीं चाहता । अतः प्राणियों का वध त्याज्य है । सब जीवों के प्रति आत्म-अपेक्ष्य भाव रखना ही निर्गन्ध-मार्ग है ।<sup>13</sup> बौद्धधर्म में अहिंसा ने मैत्री और कृपा का रूप धारण कर लिया है । सुत्तनिपात में कहा गया है कि विश्व के समस्त प्राणियों के साथ असीम मैत्री भावना बढ़ाई जाय । जैनधर्म में भी क्षमा भावना के द्वारा मैत्री को पुष्ट किया गया है । वहाँ कहा गया है कि ज्ञान का सार यही है कि उससे मैत्री की प्रभावना हो ।<sup>14</sup> सम्यग्दृष्टि व्यक्ति मैत्री, प्रमोद, कृपा एवं माध्यस्थ्य

भावना द्वारा अहिंसा भाव को ही सघन करता है। अतः कहा जा सकता है महायानी आदर्शों में जो मैत्री और करुणा की प्रमुखता है, वह भी जैनधर्म और प्राचीन बौद्धधर्म के साथ उसकी घनिष्टता के कारण है। तभी महायानी आचार्य अपनी प्राचीन परम्परा की शब्दावली में ही कहता है कि 'मुझे दूसरों का दुःख देखकर निजो दुःख की तरह ही उसे दूर करना चाहिए जैसे मेरे सत्व हैं, वैसे ही उनके सत्व हैं। अतः अपने सत्व की तरह मुझे उन पर भी अनुग्रह करना चाहिए।'<sup>15</sup>

महायानी सम्प्रदाय में भगवान बुद्ध को आलौकिक स्वरूप प्रदान किया गया है। वे सभी प्राणियों के मुक्तिदाता हैं। किन्तु फिर भी उन्होंने बौद्ध-साधक को केवल श्रद्धा के सहारे अथवा किसी भाग्य या देवता के माध्यम से मुक्ति प्राप्त कर लेने का उपदेश नहीं दिया है। कर्मवाद का सिद्धांत यहाँ भी प्रमुखता लिए हुए है। बोधिसत्व प्राणी को मुक्ति का मार्ग दिखाने का अनुग्रह तो उस पर कर सकते हैं किन्तु उसके कुशल, अकुशल कर्मों का परिणाम उसे भोगना ही होगा। ससार के दुःखों से उसे तभी छुटकारा मिलेगा, जब वह आष्टांगिक मार्ग का अनुसरण करेगा अर्थात् शील, समाधि और प्रज्ञा का उसमें पुरुषार्थ हागा। इस तरह दार्शनिक विचारधारा में महायानी सम्प्रदाय भले ही पर्याप्त विकसित हो गये हैं, किन्तु साधना और विनय के क्षेत्र में वे मूल से जुड़े हुए हैं। कर्मवाद की प्रधानता और व्यक्ति के पुरुषार्थ की प्रमुखता बौद्धधर्म में जैनधर्म के समान ही प्रारम्भ से समायी हुई है। उसके स्वरूप में अन्तर हो सकता है, किन्तु उपयोगिता और महत्त्व में नहीं। मनुष्य-भव ही बौद्धधर्म एवं जैनधर्म की कम मूल्य है। देवताओं को सुगति भी मनुष्य-जन्म धारण करने के बाद सम्भव है।<sup>16</sup> मनुष्य को पुरुषार्थ करने के लिए स्वतन्त्रता प्रदान करना श्रमण परम्परा की एक प्रमुख देन है। 'अत्तदीव' 'अत्तसरण' 'अत्ता हि अत्तनो नाथ' आदि भगवान बुद्ध के उद्गार मनुष्य की सामर्थ्य के द्योतक हैं। जैनधर्म में महावीर भी यही उद्घोष कर चुके हैं कि व्यक्ति ही सुख-दुःख का कर्ता है और अपना शत्रु व मित्र स्वयं हैं।<sup>17</sup>

महायानी आदर्शों में पारमिताओं का विशेष महत्त्व है। वस्तुतः प्रत्येक गुण जब अपनी चरम उत्कृष्ट सीमा पर पहुँच जाता है तब वह पारमिता बन जाता है। बोधिसत्व ऐसी कई पारमिताओं से युक्त होते हैं तब उनका पूर्ण व्यक्तित्व खिलता है।<sup>18</sup> जैनधर्म में 11 प्रतिमाओं और 14 गुण-स्थानों की व्यवस्था इसी प्रकार व्यक्तित्व के क्रमशः निखार के लिए है।<sup>19</sup> बौद्धधर्म में त्रिकाय का सिद्धान्त प्रचलित है। महायानी सम्प्रदाय का कथन है कि भगवान बुद्ध का भौतिक शरीर उनका रूपकाय है। उन्होंने जो उपदेश दिये वह उनका धमकाय है। यही उनका आध्यात्मिक शरीर है और भगवान बुद्ध की अलौकिकता तथा उनकी आनन्दमय अवस्था सम्भोगकाय है। भरतसिंह उपाध्याय के अनुसार इसी काय में वे ही जगत् के परमेश्वर हैं। वस्तुतः विचार किया जाय तो व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास की ये तीन सीढ़ियाँ हैं। जैनधर्म में इन्हें आत्मा के तीन प्रकारों में व्यक्त किया गया है—बहिरात्मा,

अन्तरात्मा और परमात्मा । इन दोनों का तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित है । बौद्धधर्म के सिद्धान्तों एवं प्रवृत्तियों के साथ जैनधर्म में प्रचलित कुछ समानताओं का यहाँ संकेत मात्र किया जा सका है । इसके अतिरिक्त भी अन्य कई बातों में बौद्धधर्म एवं जैन धर्म में समानता है । विद्वानों ने इस विषय में कुछ अध्ययन भी प्रस्तुत किये हैं ।<sup>20</sup> किन्तु यदि ऐतिहासिक दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाय तो श्रमण परम्परा के इन दोनों धर्मों के सम्बन्ध में और भी मनोरंजक और आधारभूत तथ्य प्राप्त किये जा सकते हैं । विद्वानों का ध्यान इस ओर आकृष्ट होना चाहिये ।

### सन्दर्भ

1. डा. हरदयाल : द बोधिसत्त्व डाक्ट्रिन इन बुद्धिस्ट संस्कृत लिटरेचर, लंदन, 1932, पृ. 30-49
2. प्रेमी, नाथूराम : जैन साहित्य और इतिहास, बम्बई, 1958, पृ. 351
3. घोष, अमलानन्द : जैन कला एवं स्थापत्य खण्ड I, दिल्ली, 1975, प्रस्ताविक, पृ. 4
4. सुजुकी : आउट लाइन्स आफ महायान बुद्धिज्म, पृ. 62-65
5. आचारारंग सूत्र, 1-4--1
6. तथागतं भिक्षुवे सम्मासम्बुद्धं द्वेबितक्का बहुलं समुदाचरन्ति खेमो च वित्त-वको पविवेको इतिवुत्तक, 2-2-9
7. उपाध्याय, भरतसिंह : बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, भाग 1, कलकत्ता, 1957, पृ. 595-96
8. जैन, सागरमल : जैन बौद्ध और गीता का समाज-दर्शन, जयपुर, 1982, पृ. 17-21
9. सर्वोदय दर्शन, आमुख, पृ. 6
10. अंगुत्तरनिकाय, 3-71 तथा धम्मपद, गा. 165-66
11. दीघनिकाय, पृ. 24-28
12. यथा अहं तथा एते यथा एते तथा अहं ।  
अत्तानं उपमं कत्तवा न हनेय्य न धातये ॥  
—सुत्तनिपात, 3-37-27
13. जहू ते एण पियं दुक्खं तहेव तेसिं पि जाण जीवाणं ।  
एवं णच्चा अप्पोवमिवो जीवेषु होदि सदा ॥  
—भगवती—आराधना, गा. 777
14. जेणरागा विरज्जेज्ज जेण सेयेसु रज्जदि ।  
जेण मित्ती पहावेज्ज तं एाणं जिण-सासरों ॥  
—समणसुत्तं गा. 86-88

15. महान्य दुःखं हन्तव्यं दुःखत्वादात्मदुःखवत् ।  
अनुग्राह्या मयदान्येपि सत्वत्वादात्मसत्त्ववत् ॥  
—बोधिचर्यावतार, 8—94
16. 'मनुस्सत्तं खो भिक्खवे देवानं सुगति गमन संखातं ।'  
—इतिवृत्तक (चवमानसुत्त)
17. अप्पा कत्ता विक्त्ता य दुहाण य सुहाण य ।  
अप्पा मित्तममित्तं च दुपट्ठिओ सुपट्ठिओ ॥  
—उत्तराध्ययन सूत्र, 20—37
18. उपाध्याय, भरतसिंह : बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ. 618
19. जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप, पृ. 143, 347
20. (अ) जैन, डॉ. भागचन्द्र : जैनिज्म इन बुद्धिस्ट लिटरेचर, नागपुर, 1972  
(ब) जैन, शीतल प्रसाद : ए कम्परेटिव स्टडी आफ जैनिज्म एण्ड बुद्धिज्म,  
दिल्ली, 1982



## कुम्भाकालीन मेवाड़ में जैनधर्म

राजस्थान में जैनधर्म प्राचीन समय से ही व्याप्त रहा है। जैनधर्म के विकास के लिए मेवाड़ की भूमि अधिक उर्वरा प्रमाणित हुई है। मज्जिमिका नगरी, नागदा, चित्तौड़, जालौर, भीनमाल आदि नगरों के इतिहास पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि आठवीं शताब्दी तक मेवाड़ में जैनधर्म सभी क्षेत्रों में विकसित हो चुका था। पूर्व मध्ययुग के शासकों एवं मेवाड़ की जनता ने जैनधर्म के प्रति अपना अनुराग प्रगट किया है। यही कारण है कि इस वीर भूमि मेवाड़ में जैन साहित्य, दर्शन, कला और ग्रन्थि का पर्याप्त विकास हो सका है। विद्वानों ने मेवाड़ और जैनधर्म के सम्बन्ध में कई लेखों में प्रकाश डाला है। डॉ. के. सी. जैन<sup>1</sup> एवं श्री रामवल्लभ सोमानी<sup>2</sup> ने इस सम्बन्ध में पुस्तकें भी लिखी हैं। पुरातत्व एवं साहित्य की प्राचीन सामग्री भी मेवाड़ में जैनधर्म के विकास की जानकारी प्रस्तुत करती है। इस सब प्रमाणों के उपयोग से यह स्पष्ट हो जाता है कि महाराणा कुम्भा के समय मेवाड़ में जो जैनधर्म विकसित हुआ उसके लिए एक सुदृढ़ आधारभूमि प्रस्तुत थी।

महाराणा कुम्भा के समय में राजस्थान में भाषा, साहित्य, कला एवं संगीत आदि की अच्छी प्रगति हुई है।<sup>3</sup> धार्मिक सहिष्णुता इस युग की सबसे बड़ी विशेषता रही है। यही कारण है कि उस समय मेवाड़ में शैवधर्म, वैष्णव धर्म एवं जैनधर्म इन सभी का विकास हो सका है।<sup>4</sup> कुम्भाकालीन मेवाड़ में जैनधर्म की जानकारी एवं मूल्यांकन हेतु महाराणा कुम्भा के पिता श्री मोकल एवं पुत्र श्री राणा रायमल के राज्यकाल को भी इस समीक्ष्य युग में सम्मिलित करना होगा। तभी ज्ञात हो सकेगा कि महाराणा कुम्भा ने अपने पिता से जैनधर्म के प्रति दृष्टिकोण की क्या विरासत प्राप्त की तथा अपने पुत्र को जैनधर्म की सेवा के क्या आदर्श सौंपे। अतः प्रस्तुत निबन्ध की समय-सीमा लगभग वि. सं. 1450 से वि. सं. 1560 तक रखी गयी है। इस तरह ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी में मेवाड़ में जैनधर्म की एक संक्षिप्त रूप रेखा प्रस्तुत की जा सकेगी। महाराणा कुम्भा का जैन धर्म के प्रति क्या योगदान रहा है, यह इससे स्पष्ट हो सकेगा।

आलोच्य युग में जैनधर्म के स्वरूप को जानने के लिए प्रमुख रूप से तत्कालीन अभिलेख, जैन ग्रन्थ, जैन आचार्य, जैन मन्दिर एवं मूर्तियाँ, प्रमुख श्रावक-श्राविकाएँ एवं जैन तीर्थों का परिचय प्राप्त करना होगा। यद्यपि फुटकर रूप से इस सम्बन्ध में विद्वानों ने प्रकाश डाला है,<sup>5</sup> किन्तु समग्र रूप में कुम्भाकालीन जैनधर्म को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

**अभिलेख :**

राजस्थान के मध्ययुगीन अभिलेखों में जैन अभिलेखों की संख्या एक हजार से ऊपर है। प्रमुख रूप से श्री रामवल्लभ सोमानी<sup>6</sup> एवं डॉ. श्यामप्रसाद व्यास<sup>7</sup> ने जैन अभिलेखों पर भी प्रकाश डाला है। इन अभिलेखों से ज्ञात होता है कि राजस्थान के शासक जैनधर्म को निरन्तर संरक्षण देते रहे हैं। विद्वानों का मत है कि जैनधर्म के सम्पर्क से ब्राह्मणों एवं राजपूतों में शाकाहार की प्रवृत्ति निरन्तर विकसित हुई है।<sup>8</sup> धार्मिक सहिष्णुता का विकास हुआ है। महाराणा कुम्भा के वंशजों ने भी इस प्रवृत्ति को आगे बढ़ाया है। महाराणा मोकल के समय में जैनधर्म को पूर्ण प्रश्रय प्राप्त था। उनके खजांची गुणराज ने सं. 1485 में नागदा में महावीर मन्दिर बनवाया था।<sup>9</sup> नागदा में ही एक पार्श्वनाथ मन्दिर है, जिसे पोरवाल जाति के श्रेष्ठ ने बनवाया था। इस मन्दिर के ऊपर छरने पर एक अभिलेख लगा है, जो वि० सं० 1486 का है। इस अभिलेख में कई जैन आचार्यों के नामों का उल्लेख है।<sup>10</sup>

महाराणा कुम्भा कला एवं पुरातत्व के महान् संरक्षक के रूप में प्रसिद्ध हैं। उनके राज्यकाल में अब तक ज्ञात लगभग 55 अभिलेख प्राप्त हुए हैं! उनमें से 12 अभिलेख जैनधर्म से सम्बन्धित हैं। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

1. **देवकूल पाठक अभिलेख<sup>11</sup>**—यह अभिलेख सं. 1491 कार्तिक सुदि 2 सोमवार को देलवाड़ा (मेवाड़) में लिखा गया था। इससे ज्ञात होता है कि महाराणा कुम्भा के विजय राज्य में धर्म-चिन्तामणि मन्दिर की पूजा के निमित्त चौदह टंक (रजत मुद्रा) राज्य की ओर से प्रदान किए जाते थे।
2. **आवश्यक-प्रशस्ति<sup>12</sup>**—जिन सागरसूरि के उपदेश से शाह रामदेव और उनकी पत्नी मेलादे ने आवश्यक वृद्धवृत्ति द्वितीय खण्ड का लेखन कराया था। इसकी लेखन तिथि इस प्रशस्ति में सं. 1492 आषाढ़ सुदी 5 गुरुवार दी है। यह देलवाड़ा (मेवाड़) में लिखी गयी थी।
3. **नागदा का मूर्ति लेख<sup>13</sup>**—कुम्भा के राज्यकाल में शाह सारंग की प्रेरणा से मदन पुत्र सूत्रधार धरणा के द्वारा नागदा में शातिनाथ की विशाल मूर्ति निर्मित की गयी थी। इस मूर्ति के आसन पर सं. 1494 माघसुद 11 गुरुवार लिखा है।



4. **महावीर प्रशस्ति<sup>14</sup>**— मेवाड़ के राणाओं का इस प्रशस्ति में विशेष वर्णन है। गुहिल नरेश हम्मिर, क्षेत्र, लक्ष, मोकल राजाओं के बाद इसमें महाराणा कुम्भा की विभिन्न विजयों का उल्लेख है। चित्तौड़गढ़ में स्थित महावीर जिनालय में यह प्रशस्ति सं. 1495 में लिखी गयी थी। इसमें यह भी उल्लेख है कि मोकल की आज्ञा के अनुसार महावीर मंदिर का जीर्णोद्धार भी कराया गया था। इस प्रशस्ति की रचना तपागच्छ के जैन मुनि चारित्र-रत्नगणि के द्वारा की गयी थी। सूत्रधार लक्ष के पुत्र नारद ने इसे उत्कीर्ण किया था। इस प्रशस्ति का विशेष अध्ययन डा० देव कोठारी ने प्रस्तुत किया है।<sup>15</sup>
5. **राणकपुर शिलालेख<sup>16</sup>**— यह शिलालेख महाराणा कुम्भा के राज्य काल आदि पर विशेष प्रकाश डालता है। इसे सं. 1495 में राणकपुर के चौमुखा जैनमंदिर के स्तम्भ पर उत्कीर्ण किया गया है। इसमें मेवाड़ के नरेशों की वंशावली के उल्लेख के बाद महाराणा कुम्भा की विजय एवं उनके विद्या-नुगग आदि का वर्णन है।
6. **भवभावनाबालाबोध प्रशस्ति<sup>17</sup>**— श्री रत्नसिंहसूरि के शिष्य मारिणक सुन्दर-गणि द्वारा भवभावनाबोध सं० 1501 कार्तिक सुदि 13 बुधवार को देल-वाड़ा (मेवाड़) में लिखा गया था।
7. **रूपाहेलीमूर्तिलेख<sup>18</sup>**— यह मूर्तिलेख रूपाहेली के जैनमंदिर की एक प्रतिमा के पृष्ठभाग पर उत्कीर्ण है। इस पर सं० 1505 आषाढ़ वदि 1 तिथि अंकित है। इस लेख में ओसवाल (ऊकेश) जाति तथा मलय गोत्र के शाह सालिग के परिवार का परिचय अंकित है।<sup>19</sup>
8. **आदिनाथ प्रतिमा लेख<sup>20</sup>**— यह आदिनाथ की प्रतिमा नागदा (एकलिंग जी) नामक प्राचीन स्थान पर बनायी गयी थी, जो अब उदयपुर संग्रहालय में सुरक्षित है (संख्या 57)। इस प्रतिमा की चरण चौकी पर केवल चार पंक्ति का यह लेख है जो सूत्रधार धरणाक ने खोदा था। इस प्रतिमा की प्रतिष्ठा खरतर गच्छीय श्री मतिवर्द्धनसूरि द्वारा की गयी थी। श्री रत्नचन्द्र अप्रवाल ने इस लेख को 15 वीं शताब्दी का माना है। इसमें कोई सम्बन्ध आदि नहीं है।
9. **शृंगारचौरी स्तम्भलेख<sup>21</sup>**— महाराणा कुम्भा के खजांची भण्डारी बेलक द्वारा निर्मित चित्तौड़गढ़ में जो शान्तिनाथ जिनालय है, उस मंदिर के स्तम्भ पर यह लेख अंकित है। सं० 1505 में इसे उत्कीर्ण कराया गया था। इस मन्दिर को शृंगारचौरी का मन्दिर भी कहते हैं। इसकी प्रतिष्ठा जिनसेन-सूरि ने करायी थी।

10. देलवाड़ा (आबू) शिलालेख<sup>22</sup>— देलवाड़ा (आबू) के जैनमन्दिर के चौक में स्थिति वेदी पर यह शिलालेख है, जो सं० 1506 आषाढसुदि 2 को उत्कीर्ण किया गया था। इस शिलालेख से ज्ञात होता है कि आबू पर आने-जाने वाले यात्रियों आदि से कुछ विशेष प्रकार के कर लेने में छूट दी गयी थी।
11. वसन्तगढ़ (सिरोही) लेख<sup>23</sup>— सिरोही के वसन्तगढ़ के जैनमन्दिर की प्रतिमा के आसन पर यह लेख उत्कीर्ण है। इसे सं० 1507 माघसुदि 11 बुधवार को अंकित किया गया था। यह चैत्य धांसी के पुत्र भादाक द्वारा स्थापित किया गया था। इसकी प्रतिष्ठा मुनि सुन्दरसूरि द्वारा की गयी थी।<sup>24</sup>
12. अचलगढ़ प्रतिमा लेख<sup>25</sup>— अचलगढ़ (आबू) में आदिनाथ की घातुप्रतिमा है। इसकी चरण चौकी पर सं० 1518 वैशाख वदि 5 को यह लेख उत्कीर्ण किया गया था। यह प्रतिमा डूंगरपुर के कलाकारों द्वारा निर्मित हुई थी तथा इसकी प्रतिष्ठा लक्ष्मीसागरसूरि ने अचलगढ़ के जिनालय में की थी।

इनके अतिरिक्त अन्य कई जैन अभिलेख इस युग के प्राप्त हुए हैं। उनका धीरे-धीरे प्रकाशन हो रहा है। चित्तौड़दुर्ग के जैन लेखों का प्रकाशन श्री सोमानी ने किया है। उन्हें शृंगारचौरी के मन्दिर में अन्य 5 छोटे लेख भी मिले हैं। ये लेख सं० 1512 एवं 1513 के हैं।<sup>26</sup> इसी तरह सतबीस देवरी का मूर्ति लेख भी नवीन है, जो सं० 1484 का है। इसमें नवीन जैन मन्दिर बनाने की सूचना है। श्रेष्ठि सुहृद का नाम इसमें पहली बार आया है।<sup>27</sup>

मेवाड़ के अतिरिक्त महाराणा कुम्भा के समय में वागड़ में भी जैनधर्म अच्छी उन्नत स्थिति में था। अतः इस प्रदेश में भी इस युग के कई महत्त्वपूर्ण अभिलेख प्राप्त होते हैं। वि० सं० 1461 के ऊपर गांव के अभिलेख में वागड़ के शासकों की वंशावली प्राप्त होती है।<sup>28</sup> महारावल पाता के बाद उनके पुत्र गजपाल के समय में वागड़ में जैनधर्म की अच्छी प्रगति हुई है। इसके राज्यकाल में कई जैन ग्रन्थों की प्रतियाँ तैयार की गयी हैं।<sup>29</sup> वि. सं. 1526 के अभिलेख से गजपाल और सोमदास के राज्यकाल के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी मिलती है। जैनधर्म की जानकारी के लिए वागड़ के अभिलेखों का भी विशेष महत्त्व है। इन जैन अभिलेखों की अपनी विशेष शैली भी है।<sup>30</sup>

## साहित्य :

महाराणा कुम्भाकालीन मेवाड़ में जैनधर्म के विकास की जानकारी के लिए जैन अभिलेखों के उपरान्त तत्कालीन जैन साहित्य का विशेष महत्त्व है, अभिलेख एवं साहित्य दोनों एक दूसरे के पूरक भी हैं। इस युग में प्राकृत के मूल ग्रन्थों का प्रणयन प्रायः कम हो गया था। किन्तु प्राकृत ग्रन्थों पर टीकाएं आदि अधिक लिखी जा रही थीं। अथर्वश के ग्रन्थ भी राजस्थान एवं उसके पड़ोसी केन्द्रों पर लिखे जा रहे थे। संस्कृत भाषा का अच्छा प्रचार था। अतः इस युग में अधिकांश ग्रन्थ संस्कृत में लिखे गये हैं। अथर्वश मिश्रित राजस्थानी एवं गुजराती के जैन ग्रन्थ भी इस युग में मेवाड़ में लिखे गये हैं। मेवाड़ के जैन साहित्य के सम्बन्ध में विद्वानों ने कई फुटकर लेख आदि लिखे हैं।<sup>131</sup> इस युग की इतिहास और संस्कृति की पुस्तकों में भी साहित्य की कुछ जानकारी प्राप्त होती है।<sup>32</sup> उस सबके आधार पर यहाँ कुम्भाकालीन जैन साहित्य का संक्षिप्त मूल्यांकन प्रस्तुत करने का प्रयत्न है।

### (क) संस्कृत काव्य :

पन्द्रहवीं शताब्दी में कई प्रमुख जैन कवि हुए हैं। उनमें सोमसुन्दरसूरि मुनिसुन्दर, सोमदेव वाचक, माणिक्य सुन्दर गरिण, प्रलिष्ठा सोम, चारित्ररत्नगरिण, जिनहर्ष गरिण, ज्ञानहंसगरिण आदि प्रमुख हैं। इनके साहित्य का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

1. **सोमसुन्दरगरिण** :—सोमसुन्दरसूरि तपागच्छ के समर्थ कवि थे। इनके जीवन के सम्बन्ध में जैन मुनियों ने 2-3 ग्रन्थ लिखे हैं।<sup>133</sup> उनमें प्रतिष्ठासोम का सोमसोभाग्य काव्य प्रसिद्ध है। दूसरा काव्य 15 वीं शताब्दी के सुमतिसाधु ने लिखा है। सोमसुन्दर सूरि को वि. सं. 1450 में राणकपुर में इनको वाचकपद प्राप्त हुआ था। उसके बाद ये दिलवाड़ा भी रहे। सोमसुन्दरसूरि की रचनाओं में कल्याणकस्तव, रत्नकोश, उपदेशबालावबोध, भाष्यत्रय अवचूरि आदि प्रमुख हैं।<sup>34</sup>
2. **मुनिसुन्दर** :—ये सोमसुन्दरसूरि के पट्ट शिष्य थे। इनको 'सहस्रावधानी' भी कहा गया है। ये संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। इन्होंने 'शान्तिकरस्तोत्र' दिलवाड़ा में लिखा था।<sup>35</sup> इनकी दूसरी रचना 'उपदेश रत्नाकर' भी प्राप्त है।<sup>36</sup> इनके शिष्यों ने भी संस्कृत की अच्छी सेवा की है। मुनिसुन्दरसूरि का अध्यात्मकल्पद्रम महत्त्वपूर्ण रचना है, जो संस्कृत एवं प्राकृत में लिखी गयी है।<sup>37</sup>
3. **सोमदेव वाचक** :—सोमसुन्दरसूरि के प्रभावशाली शिष्य सोमदेववाचक थे। महाराणा कुम्भा ने इन्हें 'कविराज' की उपाधि प्रदान की थी। गुरुणरत्नाकर एवं सोमसोभाग्य काव्य में इनका विशेष उल्लेख है।

4. **माणिक्यसुन्दरगणि** :—मेवाड़ के ये समर्थ कवि थे। इनकी साधना का केन्द्र देलवाड़ा था। इन्होंने वि० सं० 1463 में देवकुल पाटकपुर में श्रीधरचरित महाकाव्य लिखा था। इस ग्रन्थ की प्रशस्ति से ज्ञान होता है कि ये अचल-गच्छ के मेरुतुंग के शिष्य थे। जयशेखरसूरि से इन्होंने शिक्षा प्राप्त की थी। इनकी रचनाओं में चतुष्टयी, शुकराजकथा, पृथ्वीचन्द्र चरित (प्राचीन गुजराती), गुणवर्म चरित, धर्मदत्त कथा, अजायुजकथा एवं आवश्यक टीका आदि हैं,<sup>38</sup> इन्होंने महाबलमलयसुन्दरी चरित्र भी लिखा है। वि० सं० 1501 में इनके शिष्य माणिक्यरत्नगणि द्वारा लिखित 'भवभावनाबालावबोध, भी प्राप्त होता है।<sup>39</sup>
5. **प्रतिष्ठासोम**—महाराणाकुम्भा के समकालीन कवियों में महाकवि प्रतिष्ठासोम का प्रमुख स्थान है। इन्होंने सं० 1524 में सोमसौभाग्यकाव्य की रचना की थी।<sup>40</sup> यह ग्रन्थ मेवाड़ की तत्कालीन संस्कृति के दिग्दर्शन के लिए महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करता है।
6. **जिनभण्डनगणि**<sup>41</sup>—तपागच्छ के प्रभावक आचार्य सोमसुन्दरसूरि के ये शिष्य थे। इन्होंने सं० 1491-92 में कुमारपालप्रबन्ध की रचना की थी। इनकी अन्य रचनाएं धर्मपरीक्षा एवं श्राद्धगुण-संग्रह विवरण हैं, जो सं० 1498 में लिखे गये थे।
7. **जिनकीर्ति**<sup>42</sup> - सोमसुन्दरसूरि के ये प्रभावशाली शिष्य थे। इन्होंने वि० सं० 1494 में नमस्कारस्तव लिखा है। इनकी अन्य रचनाओं में चम्पक श्रेष्ठ कथानक, दानकल्पद्रुम (धन्यशाली चरित्र) सं० 1497 में श्रीपालगोपालकथा, श्राद्धगुण संग्रह (सं० 1498) आदि प्रमुख हैं।
8. **जिनहर्षगणि**—इन्होंने वि० सं० 1497 में चित्तौड़ में वस्तुपालचरित की रचना की थी। यह काव्य ऐतिहासिक एवं काव्यात्मक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।<sup>43</sup> जिनहर्षगणि जयचन्द्र सूरि के शिष्य थे। इनकी अन्य रचनाओं में प्राकृत की रणसेहरीनिबन्ध, आरामशोभाचरित्र विशतिस्थानक विचारामृत संग्रह, प्रतिक्रमणविधि आदि प्रमुख हैं। इनके ग्रन्थ हर्षक से अंकित हैं।<sup>44</sup> सम्यक्त्वकौमुदी इनकी कथात्मक रचना है।<sup>45</sup>
9. **चारित्र्य रत्नगणि**—ये जिन सुन्दरसूरि और सोमसुन्दरसूरि के शिष्य थे। इन्होंने सं० 1499 में चित्तौड़ में 'दान प्रदीप' नामक ग्रन्थ की रचना की थी।<sup>46</sup> इस ग्रन्थ में दान के प्रकार एवं उनके फलों का अच्छा विवेचन है। यह ग्रन्थ बारह प्रकाशों में विभक्त है। ग्रन्थ की प्रशस्ति महत्त्वपूर्ण है। उसमें स्पष्ट उल्लेख है—

नवांगवाधिंशीतांशु (1499) मिते विक्रमवत्सरे ।

चित्रकूटमहादुर्गे ग्रन्थोऽयं समापयत ॥

—प्रशस्ति श्लोक 16

10. आचार्य हीरानन्द<sup>47</sup>—महाराणा कुम्भा द्वारा रचित ग्रन्थ कामराजरतिसार में आचार्य हीरानन्दसूरि को स्मरण किया गया है। महाराणा ने इन्हें अपना गुरु माना है। वि. सं. 1518 में लिखित इस ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि महाराणा की सभा में इनका अच्छा सम्मान था। इन्हें 'कविराजा' की उपाधि भी दी गयी थी। हीरानन्द की कलिकालरास (1496 सं.) आदि रचनाएं प्राप्त हैं। अगरचन्द नाहटा के अनुसार ये राजस्थानी के भी अच्छे विद्वान थे।
11. ऋषिवर्द्धन<sup>48</sup>— वि. सं. 1512 में चित्तौड़ में जयकीर्ति के शिष्य ऋषिवर्द्धन ने नल-दमयन्तीरास नामक ग्रन्थ लिखा था।
12. जिनवर्द्धनसूरि<sup>49</sup>—ये मेवाड़ के निवासी थे। 'कदूलवाडपुर' में इनका साधना केन्द्र था। इनके बचपन का नाम 'रावण' था। दीक्षा का नाम राज्यवर्द्धन हुआ एवं आचार्यपद प्राप्ति के बाद इन्हें जिनवर्द्धनसूरि नाम दिया गया। इनका समय सं. 1436 से सं. 1486 तक माना जाता है। इनके शिष्य विवेकहंस थे। इन्होंने 'जिनवर्द्धनसूरि चतुःपदिका' नामक पुस्तक लिखी है, जिसमें मेवाड़ का सुन्दर वर्णन है। खरतरगच्छ के अन्य जैन कवियों का भी मेवाड़ में अच्छा प्रभाव था।<sup>50</sup> इनके अतिरिक्त भी मेवाड़ में कई जैनाचार्य इस युग में साहित्य साधना में रत रहे हैं। विशालरूपगणि ने वि. सं. 1482 में भक्तामर की अवचूर्ण लिखी थी। वि. सं. 1491 में जयशेखर-सूरि ने दिलवाडा में 'गच्छाचार' नामक ग्रन्थ लिखा था।<sup>51</sup> कुछ रचनाएं ऐसी भी प्राप्त हैं, जो इस समय की हैं, किन्तु उनमें रचना-स्थल का उल्लेख नहीं है। कई ग्रन्थ ग्रन्थ-भण्डारों के सर्वेक्षण से भी खोजे जा सकते हैं।

### भट्टारक कवि :

महाराणा कुम्भाकालीन मेवाड़ में जैनधर्म के अन्य कवियों में भट्टारक कवियों का प्रमुख स्थान है। इन्होंने मेवाड़ के प्रमुख नगरों को अपनी साहित्य-साधना का केन्द्र बनाया था। डा. विद्याधर जोहरापुरकर ने अपनी पुस्तक भट्टारक सम्प्रदाय में राजस्थान के जैन भट्टारकों का परिचय दिया है। उनमें पद्मनन्दि, सकलकीर्ति, शुभचन्द्र, सोमकीर्ति आदि प्रमुख हैं।<sup>52</sup>

1. भट्टारक पद्मनन्दि<sup>53</sup>—इन्होंने चित्तौड़ में जैनधर्म का अच्छा प्रचार किया था। सं. 1450 से 1473 के बीच इन्होंने श्रावकाचार-सारोद्धार, षड्मान-

काव्य, पार्श्वनाथ स्त्रोत, भावनाचतुर्विंशति आदि महत्त्वपूर्ण रचनाएं लिखी हैं।

2. **सकलकीर्ति**<sup>54</sup>—महाराणा कुम्भा के समय मेवाड़ में वागड़ भी जैनधर्म का प्रमुख केन्द्र था। वहाँ सागवाड़ा साहित्य का केन्द्र था। 15 वीं शताब्दी में भट्टारक सकलकीर्ति ने यहाँ पर आदि पुराण की रचना की थी। सं. 1492 में भट्टारक सकलकीर्ति ने डूंगरपुर में अपनी गद्दी स्थापित की थी। सकलकीर्ति संस्कृत, राजस्थानी एवं गुजराती के समर्थ कवि हैं। इनकी कई रचनाएँ राजस्थान में प्राप्त हुई हैं।<sup>55</sup> यथा-प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, पार्श्वपुराण, सुकुमालचरित, मूलाचार प्रदीप, आदिपुराण इत्यादि। इन्होंने अपने 'सीखामणि रास' में बड़े सुन्दर पद्य कहे हैं। यथा—

**जीव दया दृढ़ पालीइए मन कोमल कोजि ।  
आप सरीखा जीव सब मनमाहि धरीजइ ॥**

3. **भट्टारक शुभचन्द्र**<sup>56</sup>—चित्तौड़ में भट्टारक शुभचन्द्र की विशेष ख्याति रही है। ये महाराणा कुम्भा के समकालीन थे। इनके समय में चित्तौड़ में साहित्य की अच्छी सेवा हुई है। शुभचन्द्र को 'त्रिविध-विद्याघर' एवं 'षट्-भाषा कवि चक्रवर्ती' उपाधियों से अलंकृत किया गया था। इन्होंने संस्कृत एवं प्राचीन हिन्दी भाषा की लगभग 30 रचनाएं लिखी हैं। चन्द्रप्रभचरित, इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। उन्होंने पाण्डव पुराण सागवाड़ा में लिखा था। सं. 1494 में इन्होंने आबू पर एक प्रतिष्ठा भी करायी थी।
4. **भट्टारक भुवनकीर्ति**<sup>57</sup>—ये 19 वर्ष तक डूंगरपुर में रहकर जैनधर्म की सेवा करते रहे। 15 वीं शताब्दी के ये प्रमुख कवि थे। इनके जीवनधररास जम्बुस्वामीरास, कलावती रचित आदि प्रमुख रचनाएं हैं।
5. **ब्रह्मजिनदास**<sup>58</sup>—ये सकलकीर्ति के शिष्य थे। इन्होंने संस्कृत, हिन्दी में लगभग 50 ग्रन्थ लिखे हैं। उदयपुर ग्रन्थ भण्डार में भी इनके ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। जैनरास काव्य के ये पुरस्कर्ता माने जाते हैं।

इस तरह अनेक भट्टारक कवि इस मेवाड़ भूमि में महाराणा कुम्भा के समय में हुए हैं, जिन्होंने इस भूभाग को अपनी कृतियों से सजाया है। उनमें भट्टारक ज्ञान भूषण, भट्टारक श्रुतकीर्ति आदि प्रमुख हैं। श्रुतकीर्ति ने अपनी रचनाएं माडंगवाड़ के जेरहट नगर में लिखी थी। वि. सं. 1552-53 में इनका अच्छा प्रभाव था।<sup>59</sup> 15वीं शताब्दी में लगभग 30 जैन रासों काव्य लिखे जाने की जानकारी मिलती है।<sup>60</sup> पद्मनाभ 15 वीं सदी का प्रतिष्ठित हिन्दी कवि था। इन्होंने चित्तौड़ में 1543 में 'डूंगरवावनी' लिखी है।

### अन्य साहित्य

मेवाड़ में काव्यात्मक एवं धार्मिक ग्रन्थों के प्रतिरिक्त जैन कवियों ने इस युग में अन्य विधाओं के ग्रन्थ भी लिखे हैं। उनमें प्रशस्तिकाव्य, तीर्थमाला, पट्टावली, विज्ञप्ति-पत्र आदि प्रमुख हैं। चारित्ररत्नगणि द्वारा सं. 1495 में चित्तौड़ में लिखी गयी महावीर मन्दिर प्रशस्ति प्रसिद्ध है। विभिन्न जैन ग्रन्थों की प्रशस्तियों में भी मेवाड़ और राजस्थान के इतिहास के लिए महत्वपूर्ण सामग्री भरी पड़ी है। राजस्थान के 15 वीं शताब्दी के तेजपाल, पूर्णभद्र, दामोदर, हरिचन्द्र, यशकीर्ति, रङ्घू आदि ऐसे अपभ्रंश के कवि हैं, जिनके ग्रन्थों की प्रशस्तियां ऐतिहासिक महत्त्व की है। द्रयाश्रय-वृत्ति (सं. 1485) उत्तराध्ययन सूत्र अथचूरि (सं. 1486), कथाकोष प्रकरण (सं. 1485), दशवकालिक नियुक्ति (सं. 1489) आदि ग्रन्थों की प्रशस्तियों से बागड़ के शासक महारावल गोपीनाथ की तिथियों को निश्चित करने में मदद मिलती है।<sup>61</sup>

सं. 1499 में कवि 'मेहड़' ने आदिनाथ स्तवन लिखा है, जिसमें राणकपुर मन्दिर के आदिनाथ की स्तुति है। मन्दिर निर्माण के 3 वर्ष बाद ही कवि इसकी स्तुति करते हुए कहता है—

छडमुखशिखर त्रिभूभङ्गार मूलनाइक जिण कहुँ जुहार ।  
त्रिहु भूमि त्रिभुवनदीपतु, त्रिभुवनदीपक नाम धरन्तु ।  
दण्डकलस सोवनमइँ सोहइ, जो अंत तिहुअण मनमोहइ ।  
तेजपुंज भ्रनहलइ अवार, जाणो तिहुअणलाछि भंडार ।

इसी कवि ने तीर्थमाला-स्तवन भी लिखा है। इसकी प्रति उदयपुर के खंडेल-वाल जैनमन्दिर के ग्रन्थ—भन्डार में है। माण्डवगढ़ के मेघमन्जी ने सं. 1500 में तीर्थमाला की रचना की थी। इसमें चन्द्रावती नगरी और वहाँ के मन्दिरों का वर्णन है। इस युग के साहित्य की इतनी समृद्धि से यह स्पष्ट है कि मेवाड़ शासकों का जैन कवियों एवं आचार्यों के प्रति सम्मान का भाव रहा है तथा उन्हें शान्ति का वातावरण भी प्राप्त रहा है।<sup>62</sup>

### जैन कलाकृतियाँ :

महाराणा कुम्भा के समय का मेवाड़ केवल राजनैतिक दृष्टि से सुस्थिर एवं साहित्य और संस्कृति की दृष्टि से समृद्ध ही नहीं था, अपितु कला की दृष्टि से अलंकृत भी था। कुम्भा ने अपने वंशजों की कला-प्रियता को सुरक्षित रखते हुए अपने कला-ज्ञान से उसे विकसित भी किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि मेवाड़ एवं राजस्थान के अन्य क्षेत्रों की जैनकला एवं स्थापत्य से महाराणा कुम्भा को प्रेरणा के साथ-साथ प्रतिस्पर्धा भी प्राप्त हुई थी। इसीलिए उन्होंने अपने समय में हिन्दू कला को पर्याप्त विकसित किया। उनके इस कला प्रेम ने जैन श्रावकों और साधुओं में अदम्य उत्साह को जगाया था। इससे संस्कृति के दोनों छोर हिन्दु और जैन साथ-साथ

पूर्ण रूप से इस युग में विकसित हो सके। दोनों के विकास और सजगता का ही परिणाम था कि यहाँ की कलाकृतियों में विदेशी प्रभाव प्रवेश नहीं कर सका।

पश्चिमी भारत की जैन कला के अन्वेषकों एवं समीक्षकों का मत है कि मेवाड़ में हिन्दू राजाओं का शासन होने से यहाँ की जैनकला पर सुलतानी प्रभाव प्रायः नहीं है।<sup>64</sup> धार्मिक परम्पराओं को यहाँ सुरक्षा प्राप्त हुई है। यद्यपि 15 वीं शताब्दी में अनुकृति को अधिक बढ़ावा मिला है, फिर भी मौलिक सृजन के जो जो भी कलात्मक आधार हैं वे दर्शकों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। मेवाड़ के सांस्कृतिक सद्भाव एवं शासकों की कलाप्रियता के कारण यहाँ पन्द्रहवीं शताब्दी में अच्छे मन्दिरों का निर्माण हो सका है। यहाँ के मन्दिरों में मारु-गुजर स्थापत्य की विशेषताओं की सुरक्षा हुई है। बाहर-भीतर के अलकरण की सम्पन्नता यहाँ के मन्दिरों की खास विशेषता है। इस काल के मन्दिरों के स्थापत्य को जेम्स फर्ग्युसन ने 'मध्यशैली' नाम दिया है।<sup>64</sup> नागरशैली को जैन मंदिरों ने एक नया रूप दिया है। चौमुख मन्दिरों की शैली यह यहाँ की खास विशेषता है, जिसे सर्वतोभद्र प्रकार का विकास कहा जा सकता है।<sup>65</sup> इसका प्रमुख उदाहरण है—मेवाड़ का प्रसिद्ध राणकपुर जैन मन्दिर।

मेवाड़ के शासकों ने 15 वीं शताब्दी में जिस स्थापत्य कला का निर्माण किया है, उसका परिचय एवं मूल्यांकन कई विद्वानों ने किया है। प्रसंगवश इस युग की जैनकला का परिचय भी विभिन्न ग्रन्थों में प्राप्त होता है। इस सम्बन्ध में कुछ निबन्ध भी विद्वानों ने लिखे हैं। प्रमुख रूप से राम वल्लभ सोमानी ने कुम्भायुगीन मेवाड़ की जैनकला का विभिन्न स्तों के आधार पर मूल्यांकन प्रस्तुत किया है।<sup>66</sup> उससे ज्ञात है कि चित्तौड़, कुम्भलगढ़, अचलगढ़, विलवाडा, डूंगरपुर, राणकपुर आदि स्थान जैनकला के प्रमुख केन्द्र रहे हैं। श्वेताम्बर एवं दिग्म्बर दोनों मान्यताओं की कलाकृतियाँ यहाँ बनती रही हैं। जानकारी के लिए इस युग की जैन कलाकृतियों का संक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत है।

### 1. चित्तौड़गढ़

जैनकला के लिए राजस्थान में चित्तौड़ प्राचीन समय से ही प्रमुख केन्द्र रहा है।<sup>67</sup> 15 वीं शताब्दी में यहाँ पर प्राचीन अवशेषों की सुरक्षा के साथ-साथ नये निर्माण भी किये गये हैं। यहाँ के निम्न प्रमुख मंदिर उल्लेखनीय हैं—

1. शृंगार चंवरि<sup>68</sup>—इस शान्तिनाथ मंदिर का निर्माण 14 वीं शताब्दी में हो चुका था। किन्तु राणा कुम्भा के खजान्ची शाह केलहा के पुत्र बेलाक ने वि. सं. 1505 में इस मंदिर का पुनः निर्माण करवाया था। यह मंदिर पंचरथ प्रकार का है, जिसमें एक गभंगृह तथा उत्तर और पश्चिम दिशा में संलग्न चतुष्कियाँ हैं। इस मंदिर के बाह्य एवं भीतरी मूर्तिशिल्प अलंकृत



है। इस मंदिर में अष्टभुजी विष्णु एवं शिवलिंग की प्रतिमाएं होने से यह मंदिर धार्मिक उदारता का एक उदाहरण है।

**सत-बीस-डयोढ़ी मंदिर<sup>69</sup>**—शैलीगत विशेषताओं के आधार पर इसका निर्माण काल 15 वीं शताब्दी माना जाता है। इस मंदिर के मंडप में वि. सं. 1464 का लेख प्राप्त हुआ है तथा शान्तिनाथ की प्रतिमा पर वि. सं. 1512 का शिलालेख भी मिला है। इससे ज्ञात होता है कि इसके निर्माण में भण्डारी श्रेष्ठि ने महत्त्वपूर्ण योग दिया था। इस मंदिर में कई देवी-देवताओं की भी मूर्तियां हैं।

**महावीर जैन मंदिर<sup>70</sup>**—इस मंदिर का श्रेष्ठि गुणराज के पुत्रों ने जीर्णोद्धार कराया था। वि. सं. 1485-1495 के बीच इसका कार्य पूरा हुआ था। इसकी प्रतिष्ठा सोमसुन्दरसूरि ने करायी थी।

2. **अचलगढ़ (आबू) के जैन मंदिर<sup>71</sup>**—महाराणा कुम्भा के समय में आबू पर्वत पर अचलगढ़ में जैन मंदिर का निर्माण हुआ था। वि. सं. 1516 में खरतरगच्छ के श्रेष्ठि मंडलिक ने पार्श्वनाथ का मंदिर यहाँ बनवाया था। इसकी प्रतिष्ठा आचार्य जिन चन्द्रसूरि ने की थी। वि. सं. 1518 में अचलगढ़ के चौमुखा मंदिर में आदिनाथ की मूर्ति कुम्भलगढ़ से लाकर स्थापित की गयी थी।

3. **कुम्भलगढ़ के जैन मंदिर<sup>72</sup>**—महाराणा कुम्भा के काल में कुम्भलगढ़ प्रसिद्ध जैन केन्द्र था। इस समय यहाँ जैन मंदिरों का जीर्णोद्धार एवं निर्माण भी कराया गया था। उनमें से प्रमुख इस प्रकार हैं—

**पार्श्वनाथ मंदिर**—यहाँ की पार्श्वनाथ की मूर्ति पर वि. सं. 1508 वैशाख वदि 13 का लेख उत्कीर्ण है। इससे ज्ञात होता है कि नरसिंह पोरवाल ने इस मंदिर का निर्माण कराया था। इस मंदिर की अन्य मूर्तियों पर भी वि. सं. 1513 के लेख अंकित हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि रत्नशेखरसूरि ने इनकी प्रतिष्ठा करायी थी।

**बावन जैन मंदिर**—इस मंदिर के प्रांगण में एक विशाल मंदिर है। उसके चारों तरफ 52 छोटे मंदिर हैं। उनमें से 40 में अब मूर्तियां नहीं हैं। मुख्य मंदिर के पीछे स्तम्भ लेख है, जिससे ज्ञात होता है कि इस मंदिर का निर्माण सं. 1521 में सूत्रधार नरसी गोदा ने किया था।

**गोलैरा जैन मंदिर**—यह गोलाकार रश्माकृति में निर्मित है। इस मंदिर में मूर्तियों का अलंकरण भित्तियों पर उपलब्ध है। कला की दृष्टि से इसे कुम्भाकालीन मन्दिर माना जा सकता है।

पीतलशाह जैन मंदिर—इसका निर्माण वि. सं. 1512 में हुआ था। निर्माता पीतल्या जैन जाति के श्रावक के कारण इसका नाम पीतलशाह का मन्दिर है।

कुम्भलगढ़ में इन मन्दिरों के अतिरिक्त अन्य खण्डित जैन मूर्तियां भी उपलब्ध हुई हैं, जो इसे प्रसिद्ध जैन कला केन्द्र सिद्ध करती हैं।

#### 4. राणकपुर का चौमुखा जैन मन्दिर

बराबली पर्वतों से घिरा हुआ सादड़ी (मारवाड़) का यह जैन मन्दिर राणकपुर के चौमुखा मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध है। इसे पोरवाल जाति के घरणा-शाह नामक श्रेष्ठ ने महाराणा कुम्भा के काल में बनवाया था। वि. सं. 1496 से सं. 1516 के बीच इस मन्दिर का निर्माण-कार्य पूर्ण हुआ। किन्तु इसकी प्रतिष्ठा सं 1496 में हो चुकी थी। यह मन्दिर अपने शिल्प एवं भव्यता के लिए विश्व विख्यात है। इस मन्दिर का निर्माण देपाक नामक शिल्पकार ने अपने सहयोगियों के साथ मिलकर किया था।<sup>73</sup>

इस प्रमुख मन्दिर के साथ राणकपुर में पार्श्वनाथ एवं नेमिनाथ के दो मंदिर और हैं, जो इसके समकालीन ही हैं।

महाराणा कुम्भा कालीन मेवाड़ में इन जैन कला-केन्द्रों के अतिरिक्त, नागदा, बसन्तगढ़, केलवा, सरदारगढ़, डूंगरपुर, माण्डलगढ़, गोड़वाल आदि अनेक स्थानों पर भी जैन मन्दिर प्राप्त होते हैं।<sup>74</sup> नागदा में गुणराज ने 1428 ई. में महावीर मन्दिर बनवाया था तथा 1429 ई. में पोरवाल जाति के श्रेष्ठ ने पार्श्वनाथ मन्दिर बनवाया था।<sup>75</sup> नागदा में ही 1437 ई. में सारंग ने अद्भुत जी मन्दिर में शान्तिनाथ की मूर्ति बनवाई थी। बसन्तगढ़ में घांसी के पुत्र भादाक ने 1453 ई. में बसन्तपुर चैत्य बनवाया था। इसी तरह 15 वीं शताब्दी में नाणा ग्राम, नाडलाई आदि स्थानों पर मन्दिर बनवाये गये थे।

इस युग में मन्दिरों में प्रसिद्ध जैनाचार्यों की मूर्तियां भी स्थापित की जाने लगी थीं। मेवाड़ के दिलवाड़ा के मन्दिर में 15 वीं शताब्दी में बनी हुई जिनरत्न-सूरि, जिनवर्द्धनसूरि, द्रोणाचार्य, जिनराजसूरि की मूर्तियां प्राप्त हुई हैं।<sup>76</sup>

#### जैन चित्रकला :

चित्रकला अति सूक्ष्म कला है। अतः इसके नमूने सुरक्षित रह पाना कठिन हैं। 15 वीं शताब्दी के जैन मन्दिरों में चित्रकला के नमूने दुर्लभ हैं। किन्तु इस समय के साहित्य में कई महत्वपूर्ण चित्र प्राप्त होते हैं। जोधपुर के केशरियानाथ के मन्दिर में खरतरगच्छ भण्डार में 15 वीं शताब्दी की लिखित व चित्रित एक पाण्डुलिपि उपलब्ध है। इसका परिचय अग्ररचंद नाहटा ने दिया है।<sup>77</sup> 15 वीं

शताब्दी में चित्रित कल्पसूत्र की भी कई प्रतियां राजस्थान से प्राप्त होती हैं। इन चित्रित प्रतियों से राजस्थान शैली की नई विधा ने चित्रकला के क्षेत्र में जन्म लिया है।

मेवाड़ में 15 वीं शताब्दी की जैन चित्रकला का प्रतिनिधि चित्रित ग्रन्थ हीरानन्द मुनीन्द्र द्वारा लिखित 'सुपासनाहचरिय' है। यह ग्रन्थ महाराणा कुम्भा के पिता मोकल के समय में सं. 1479-80 में देसवाड़ा (मेवाड़ में लिखा गया था। इसमें कुल 37 चित्र हैं। इस प्रति के चित्र इतने आकर्षक हैं कि एकदम ताजे लगते हैं।<sup>79</sup> इस ग्रन्थ के चित्रों का विशेष परिचय मेवाड़ की चित्रकला को रेखांकित करता है।<sup>80</sup> इसके अतिरिक्त 'श्रावक प्रतिक्रमणसूत्र' की सचित्र प्रति भी प्राप्त है, जो इस युग की जैन चित्रकला का प्रतिनिधित्व करती है।<sup>81</sup> सोमसौभाग्य काव्य के उल्लेखों से यह ज्ञात होता है कि उस काल के श्रेष्ठियों के भवनों की भित्तियां चित्रों से अलंकृत रहती थीं।<sup>82</sup> अपभ्रंश के कई ग्रन्थों में भी इस प्रकार की सामग्री प्राप्त है।

महाराणा कुम्भा कालीन मेवाड़ में शासक एवं जैन श्रावकों का इतना अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध था कि जैन मन्दिरों में हिन्दू धर्म की मूर्तियां भी कुछ स्थानों पर स्थापित की गयी थीं। वि. सं. 1503, 1504 एवं 1521 के अभिलेखों से ज्ञात होगा कि डूंगरपुर क्षेत्र में किसी हूंमड़ जैन परिवार ने त्रिविक्रम एवं नारायण की वैष्णव मूर्तियों की स्थापना में सहयोग किया था। जैसलमेर के वि. सं. 1581 के शिलालेख से भी यह ज्ञात होता है कि सखवाल जैन परिवार ने जैन मन्दिर में दशावतार एवं लक्ष्मीनारायण की मूर्तियां स्थापित की थीं। यह धार्मिक उदारता तत्कालीन कला की समृद्धि की देन थी। श्रीमाल जीवराज ने वि. सं. 1525 में जावर से अहमदाबाद की यात्रा की थी, वहाँ के विष्णु मन्दिर के दर्शन के लिए।<sup>83</sup> कला की समृद्धि और धार्मिक भावना के कारण इस प्रकार की कई संघ-यात्राओं के किए जाने के उल्लेख इस युग के स्रोतों से प्राप्त होते हैं।<sup>84</sup>

### जैन समाज :

15 वीं शताब्दी में मेवाड़ के विभिन्न क्षेत्रों में जैन समाज की सम्मानजनक स्थिति थी। यही कारण है कि जैन श्रेष्ठियों को राज्य-व्यवस्था में उच्च पद प्राप्त थे। मास्टर बलवन्तसिंह जी मेहता का यह कथन ठीक प्रतीत होता है कि मेवाड़ के राजाओं की आत्मा शेष थी तो देह जैन थी।<sup>85</sup> श्वेताम्बर आचार्यों ने मेवाड़ को एवं दिगम्बर आचार्यों ने बागड़ क्षेत्र को अपने उपदेशों से धीरे-धीरे अहिंसक बना दिया था। इसी अहिंसक वातावरण में ही मेवाड़ साहित्य एवं कला का भण्डार बन सका है।

इस युग में जैन श्रेष्ठियों ने समाज में अपनी अच्छी प्रतिष्ठा बना रखी थी। महाराणा खेता के समय में रामदेव नवलखा जनप्रिय मन्त्री था। उसके परिवार ने

नागदा, करेड़ा, केलवाड़ा, देलवाड़ा आदि स्थानों पर जैनधर्म को अच्छा संवर्द्धन प्रदान किया था। सहणपाल एवं सारंग नामक श्रेष्ठ भी कलामर्मज्ञ एवं धार्मिक दृष्टि से उदार अधिकारी थे।<sup>86</sup> सोम-सौभाग्य काव्य से ज्ञात होता है कि ईडर का वीसल श्रेष्ठ का परिवार धार्मिक अनुष्ठानों के लिए प्रसिद्ध था।<sup>87</sup> श्रेष्ठ गुणराज का चित्तौड़ के इतिहास में महत्वपूर्ण योगदान है। राणकपुर के घरणाशाह परिवार का योगदान विश्वविख्यात हो गया है। शाह वेलाक, साह हरयाल, सेठ रतनाशाह, शाह जीवराज पापड़ीवाल आदि इस युग के प्रमुख सामाजिक कार्यकर्ता थे।<sup>88</sup> इस युग के निर्माण में जैन परिवारों की धार्मिक महिलाओं का भी कम योगदान नहीं है। तत्कालीन अभिलेखों से बड़ी रोचक जानकारी मिलती है। बिजौलिया लेखों में जैन साध्वियों के नाम भी अंकित हैं। अभिलेखों से ज्ञात होता है कि पत्नी का नाम पति के उपनाम से प्रारम्भ होता था। यथा—समकत कर्मा=कर्मादेवी, तेलहर लून=लूना देवी, सुराणा लखन=लखनसिरी, प्रागवटलेखा=लेखाश्री इत्यादि।<sup>89</sup>

महाराणा कुम्भाकालीन मेवाड़ में जैनधर्म की प्रमुख दोनों शाखाओं—श्वेताम्बर एवं दिगम्बर का पर्याप्त विकास हुआ है। तपागच्छ के जैनाचार्यों के लिए यह साधना भूमि रही है। खरतरगच्छ का जन्म मेवाड़ में हुआ, भले ही उसका विस्तार गुजरात में हुआ हो। चैत्यवासी परम्परा का प्रमुख केन्द्र भी आवू एवं सिरोही राज्य रहा है। भट्टारक सम्प्रदाय के दिगम्बर आचार्यों के लिए तो मेवाड़ एवं उसके आस-पास के प्रदेश बहुत अनुकूल रहे हैं धार्मिक प्रचार के लिए। इनके प्रयत्नों से बहुमूल्य साहित्य यहाँ सुरक्षित रह सका है। कहा जाता है कि महाजनों की 84 जातियाँ इसी युग में प्रसिद्धि में आयी थीं। पृथ्वीचन्द्रचरित में तो इनके नाम भी मिलते हैं।<sup>90</sup> बाँठिया, लूनिया, सुराना, सांखला, दूगड़, चौपड़ा, कटारिया, बोथरा आदि गोत्र महाराणा कुम्भा के समय में ही राजस्थान में प्रचलित हुए हैं, जिनका सम्बन्ध जैनधर्म के साथ जुड़ा है।<sup>91</sup>

इस तरह महाराणा कुम्भा कालीन मेवाड़ में जैनधर्म के इतिहास एवं विकास के लिए पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। इसका विधिवत् एवं गहरायी से मूल्यांकन किया जाना आवश्यक है। “15 वीं शताब्दी के मेवाड़ में जैनधर्म” नाम से एक अच्छा ग्रन्थ या शोध-प्रबन्ध तैयार किया जा सकता है। जो राजस्थान के इतिहास एवं संस्कृति के लिए उपयोगी दस्तावेज होगा। मेवाड़ के जैन शिलालेखों का संग्रह, जैन ग्रन्थ-प्रशस्ति-संग्रह एवं जैन पुरातत्व, ये तीन ग्रन्थ भी हिन्दी अंग्रेजी के साथ तैयार किये जाने चाहिए।

सन्दर्भ

1. के. सी. जेन, जैनज्म इन राजस्थान, सोलापुर. 1983
2. रामवल्लभ सोमानी, महाराणा कुम्भा, 1968, बीरभूमि चित्तौड़, 1969
3. तारामगल, महाराणा कुम्भा और उनका काल, 1984
4. गौरीशंकर असावा, 15 वीं शताब्दी का मेवाड़, 1986
5. (क) राजस्थान भारती वर्ष 8, अंक 1-2  
(ख) अनेकान्त, वर्ष 25, अंक 2-5  
(ग) शोध-पत्रिका, वर्ष 21, अंक 3
6. जैन इन्स्ट्रिक्सन्स आफ राजस्थान, जयपुर, 1982
7. श्यामप्रसाद व्यास, राजस्थान के अभिलेखों का सांस्कृतिक अध्ययन, जोधपुर, 1986, पृ. 98
8. एपिग्राफिका इण्डिका, भाग 11, पृ. 44
9. मध्यप्रान्त, मध्य भारत और राजपूताने के प्राचीन जैन स्मारक, पृ. 137
10. राम वल्लभ सोमानी, 'महाराणा मोकल के तीन अप्रकाशित शिलालेख, शोध पत्रिका, वर्ष 1, अंक 2
11. नाहर, जैन लेख-संग्रह, द्वितीय भाग, पृ. 255-56
12. जैन प्रशस्ति संग्रह, भाग 1, पृ. 148
13. श्रोभा, राजपूताना का इतिहास, भाग 2, पृ. 630, ले. सं. 8
14. भण्डारकार, जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी (बम्बई ब्रांच) भाग 23, पृ. 49
15. जैनविद्या स्मारिका, 1987, सुखाड़िया विश्वविद्यालय, पृ. 16
16. मुनि जिन विजय, प्राचीन लेख संग्रह, लेख सं. 307 पृ. 169-71
17. सोमानी, महाराणा कुम्भा, पृ. 215
18. हरविलास शारदा, महाराणा कुम्भा, पृ. 174, लेख सं. 6
19. विजय शंकर श्रीवास्तव, 'महाराणा कुम्भा अभिलेख सूची' नामक लेख, राजस्थान भारती, 8, अंक 1-2, पृ. 147
20. रत्नचन्द्र अग्रवाल, राजस्थान भारती, कुम्भा विशेषांक, पृ. 97-98
21. राम वल्लभ सोमानी, महाराणा कुम्भा
22. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, नवीन संस्करण, सं. 1977, भाग 1, पृ. 450-452

23. ओभा, अजमेर म्यूजियम रिपोर्ट, मन् 1924, पृ. 34
24. के. सी. जैन. जैनियम इन राजस्थान, पृ. 30-31
25. मुनि जिनविजय, प्राचीन जैन लेख-संग्रह, भाग 2, पृ. 155, लेख सं. 264
26. रामवल्लभ सोमानी, 'चित्तौड़ दुर्ग के अप्रकाशित जैन लेख' नामक लेख, शोध-पत्रिका, वर्ष 21, अंक 3
27. वही, जैन कीर्तिस्तम्भ चित्तौड़ के अप्रकाशित शिलालेख, अनेकान्त 22, अंक 1
28. वही, 'ऊपर गांव (डूंगरपुर) का अप्रकाशित जैन लेख, अनेकान्त वर्ष 23, अंक 2 जून, 1960
29. वही, ऐतिहासिक शोध संग्रह, पृ. 43-46
30. 'राजस्थान के शिला लेखों का वर्गीकरण' नामक श्री सोमानी का लेख, श्री अग्रचन्द नाहटा अभिनन्दन ग्रन्थ, 1976, भाग 2, पृ. 130
31. (क) गजानन मिश्र, राजस्थान के जैन कवि और उनकी रचनाएं, अनेकान्त, वर्ष 25, अंक 2, 3, 4, 5, 1973  
(ख) अग्रचन्द नाहटा, 'राजस्थान में रचित जैन संस्कृत साहित्य' राजस्थान भारती, वर्ष 3, अंक 2, 3-4  
(ग) जैन संस्कृति और राजस्थान, जिनवाणी विशेषांक, 1975
32. (अ) रामवल्लभ सोमानी, महाराणा कुम्भा,  
(ब) तारा मंगल, महाराणा कुम्भा और उनका काल, 1984, पृ. 145-152  
(स) गौरीशंकर असावा, 15 वीं शताब्दी का मेवाड़, 1986, 149-151
33. देसाई, जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, पृ. 451-461
34. शोधपत्रिका भाग 6, अंक 2-3, पृ. 55
35. रामवल्लभ सोमानी, महाराणा कुम्भा, पृ. 212
36. हीरालाल र. कापड़िया, जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग 4, पृ. 200
37. कापड़िया की भूमिका के साथ, जैन पुस्तक प्रचारक संस्था से वि. सं 2005 में प्रकाशित
38. गुलाबचन्द चौधरी, जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग 6, पृ. 516
39. प्रेम सुमन जैन, मेवाड़ का प्राकृत, अपभ्रंश एवं संस्कृत साहित्य, अम्ब गुरु अभिनन्दन ग्रन्थ. पृ. 206
40. देसाई, जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास पृ. 551-461 में इस ग्रन्थ का संक्षिप्त सार दिया गया है।
41. चौधरी, जैन सा. का बृहद् इतिहास, भाग 6, पृ. 226
42. वही, पृ. 311

43. वही, पृ 416
44. जिनहर्षगणिकृत रयणसेहरीकहा का सम्पादन एवं आलोचनात्मक ग्रन्थयन (धीसिस)—डॉ. सुधा खाब्या, उदयपुर, 1984
45. कापड़िया, जैन सा. का वृ. इ. भाग 5, पृ. 210
46. वही, पृ. 212
47. महाराणा कुम्भा, पृ. 213
48. वही, पृ. 211-218
49. अग्रचन्द्र नाहटा, मेवाड़ के महान स्रूत—जैनाचार्य जिनवर्द्धन सूरि, शोध पत्रिका, वर्ष 28, अंक 1, पृ. 25-28
50. तारा मंगल, महाराणाकुम्भा, पृ. 149
51. डा० तारामंगल, महाराणाकुम्भा और उनका काल, जोधपुर 1984, पृ० 45- 52
52. विद्याधर जोहरापुरकर, भट्टारक सम्प्रदाय
53. परमानन्द शास्त्री राजस्थान के जैन सन्त मुनि पद्मनन्दी, अनेकांत, वर्ष 22, अंक 6, 1970
54. के० सी० कासलीवाल—जैन ग्रन्थ भण्डाराज इन राजस्थान, पृ. 200-201
55. डा० बिहारीलाल जैन ने सकलकीर्ति और उनके साहित्य पर शोध-प्रबन्ध लिखा है (अप्रकाशित, 1978)
56. कासलीवाल, वही, पृ. 234, अबुंदाचल जैन लेख संदोह ।
57. इनके ग्रन्थ प्रायः अप्रकाशित हैं और जयपुर के ग्रन्थ भण्डारों में प्राप्त हैं ।
58. डा० प्रेमचन्द्र रावका, 'राजस्थान के जैन रासकाव्य' नामक लेख, महावीर जयन्ती स्मारिका, (1984) पृ. 2/8-10
59. जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह, पृ. 122-123
60. विजय कुलश्रेष्ठ, 'राजस्थान का रासो साहित्य' नामक लेख, शोधपत्रिका, वर्ष 25, अंक 2, पृ. 84
61. रामवल्लभ सोमानी, राजस्थान भारती भाग 10, अंक 4
62. विशेष के लिए दृष्टव्य—  
ब्रजमोहन जाबलिया, 'मेवाड़ का जैन साहित्य' नामक लेख, मञ्जुमिका 1971, पृ. 136
63. मुनीशचन्द्र जोशी, जैनकला एवं स्थापत्य, भाग, 2, अध्याय 25, पृ. 340

64. हिस्ट्री आफ इण्डियन ईस्टर्न आर्टिटेक्चर, I, पुनर्मुद्रित, 1967, दिल्ली पृ० 60
65. अशोक कुमार भट्टाचार्य, जैनकला एवं पुरातत्व, भाग 2 अध्याय 28, पृ० 362
66. महाराणा कुम्भा, पृ० 265
67. पं० नीरज जैन, चित्तौड़-दर्शन
68. सोमानी, वीरभूमि चित्तौड़, पृ० 119
69. असावा, 15 वीं शताब्दी का मेवाड़, पृ० 167-168
70. महाराणा कुम्भा, पृ० 282-83
71. अर्जुदाचल प्राचीन जैनलेख-सन्दोह, भाग 2, पृ० 173
72. असावा, वही, पृ० 168
73. द्रष्टव्य : (क) सोमसौभाग्य काव्य, सर्ग 9, श्लोक 49-54  
(ख) जयकुमार जैन, कला मन्दिर राणकपुर  
(ग) आर. पी. भटनागर, राणकपुर-दर्शन ।  
(घ) जैनकला एवं पुरातत्व, भाग 2, अध्याय 28
74. महाराणा कुम्भा (सोमानी), पृ० 272
75. के० सी० जैन, जैनज्म इन राजस्थान, पृ० 30-31
76. वही, पृ. 135
77. 'पन्द्रहवीं शती की मेवाड़ में चित्रित एक विशिष्ट प्रति' शोधपत्रिका, वर्ष 5, अंक 2, पृ. 58
78. सत्यप्रकाश, 'राजस्थान में चित्रकला का क्रमिक विकास' राजस्थान भारती, वर्ष 8, अंक 1
79. ग्रन्थ प्रशस्ति के लिए देखें—राजस्थान भारती, भाग 8, अंक 1
80. आचार्य श्री विजयवल्लभसूरि स्मारक ग्रन्थ में इस ग्रन्थ का विस्तार से परिचय दिया गया है ।
81. मूल प्रति बोस्टन संग्रहालय (अमेरिका) में संग्रहीत है ।
82. सोमसौभाग्य काव्य (गुजराती अनुवाद), पृ. 83
83. रामवल्लभ सोमानी, जैन इन्स्क्रिप्सन्स इन राजस्थान, पृ. 202
84. वही, पृ. 203-205
85. बलवन्तसिंह मेहता, 'मेवाड़ और जैनधर्म' नामक लेख, अम्बागुरु अभिनन्दन ग्रन्थ पृ. 108-109



86. सोमानी, बीर भूमि चित्तौड़, पृ. 162-164
87. बही, महाराणा कुम्भा, पृ. 336-337
88. ज्योतिप्रसाद जैन, प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएँ, पृ. 252-255
89. सोमानी, जैन इन्स. इन राजस्थान, पृ. 76
90. मुनि जिनविजय, प्राचीन गुजराती गद्य सन्दर्भ, पृ. 155
91. के० सी० जैन, जैनज्म इन राजस्थान, पृ० 97-99



## जैन साहित्य में जीवन-मूल्य

भारतीय साहित्य मानव-जीवन के किसी न किसी मूल्य से हमेशा जुड़ा रहा है। शायद इसीलिए, हजारों वर्ष पूर्व का साहित्य आज भी जीवन को आलोचित करने की क्षमता रखता है। संस्कृत-साहित्य की क्षमता इस क्षेत्र में जितनी समर्थ है, उतनी ही व्यापक उपयोगिता प्राकृत एवं अपभ्रंश साहित्य की भी है। इस साहित्य के माध्यम से वह जन-मानस उभरकर सामने आया है, जिसमें लोक की सहज अनुभूतियाँ हैं तथा अध्यात्म के भिन्न-प्रयोग। प्राकृत-अपभ्रंश भाषाएँ ही अपनी विविधता व अनेक रूपता के लिए प्रसिद्ध नहीं हैं, अपितु उनका साहित्य भी नित नए रूप धारण करता रहा है। अतः इस साहित्य में जीवन-मूल्य की खोज अध्यात्म के बदलते स्वरूप की पकड़ है, क्योंकि जितने परिवर्तन आठवीं सदी में अध्यात्म-विचारधारा में हुए, उतने सामाजिक और आर्थिक जीवन में भी।

आठवीं शताब्दी का युग अपभ्रंश के आदिकवि स्वयम्भू एवं सिद्धकवि सरहपाद तथा प्राकृत के हरिभद्रमूरि, उदद्योतनमूरि एवं महाकवि कौतूहल का युग था। इनकी रचनाओं से तत्कालीन जीवन का पूर्ण प्रतिनिधित्व होता है। इनके साहित्य में जीवनमूल्यों के प्रस्तुतीकरण की पृष्ठभूमि में कुछ विशेष प्रवृत्तियाँ कार्य करती रही हैं। उनके स्पष्टीकरण द्वारा तत्कालीन साहित्य के जीवन-मूल्यों को भली-भाँति समझा जा सकेगा।

इस युग के साहित्यकारों ने विषय, शिल्प और भाषा समन्वयबोध को अधिक जाग्रत किया है। जो बात वे कहना चाहते थे, तदनुसार ही कथानक और भाषा माध्यम को उन्होंने चुना है। इन कथाकारों ने मानव-जीवन के विविध पहलुओं को गहराई से देखने-परखने की चेष्टा की है। अतः वे साहित्य को मात्र मनोरंजन का साधन न मानकर जीवन की सूक्ष्म सवेदनाओं, मनोविकारों और भावनाओं का विश्लेषण करने वाला माध्यम मानते हैं। इसी दृष्टिकोण के कारण प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य उद्देश्य-परक साहित्य कहा जा सकता है। यह शायद इस बात का प्रतिफल है कि इसके सर्जक स्वयं जीवन की सार्थकता के अन्वेषी थे। अतः उनके द्वारा लिखा गया साहित्य निरर्थक एवं उद्देश्य-हीनता जैसे दोषों से मुक्त ही रहा।

प्राकृत-अपभ्रंश-साहित्य में उद्देश्य की स्पष्टता होने के कारण एक लाभ यह हुआ कि कथा की अनेक विधाएँ जन्म ले सकीं ; सकलकथा, खंडकथा, उल्लाप-कथा, परिहासकथा और संकीर्णकथा आदि। धर्मकथा, अर्थकथा एवं कामकथा जैसा विभाजन एक साथ दो उद्देश्यों की पूर्ति कर सका। ये तीनों पुरुषार्थ साहित्य के प्रतिपाद्य भी हैं और उसके सृजन के लिए वातावरण आदि का आधार भी उपस्थित करते हैं। इस कारण प्राकृत-अपभ्रंश के कथाकार अपने कथन के प्रति अधिक निष्ठावान हैं। वे जब पाठक को कामवृत्ति से परिचित कराना चाहते हैं, तो कामकथा को पूर्णता से कहते हैं, जब भौतिक समृद्धि की उपयोगिता प्रदर्शित करना चाहते हैं, तो अर्थकथा उनका माध्यम होती है और इन दोनों कथाओं के द्वारा वे जीवन की यथार्थता का इतना दिग्दर्शन करा देते हैं कि पाठक स्वयं कुछ आगे की बात, शाश्वत सुख के स्वरूप आदि को जानने का इच्छुक हो उठता है, तब उसे धर्मकथा पढ़ने व सुनने को मिलती है।

इस युग में जीवन-मूल्यों की स्थापना के पीछे समन्वयात्मक अनुभूति की प्रधानता रही है। गुप्त युग की सांस्कृतिक चेतना का प्रभाव अभी ताजा था, जैसे समस्त की अनुभूतियों का समन्वय कर लिया गया हो। किसी एक व्यक्ति के बनने व बिगड़ने की चिन्ता इस युग के साहित्यकार को नहीं थी। वह ऐसा मूल्य प्रतिपादित करना चाहता था, जिसमें सार्वभौमिक कल्याण निहित हो। व्यक्ति वैशिष्ट्य की अपेक्षा सामान्य रसात्मक अनुभूति प्रस्तुत करना किसी भी अच्छे साहित्य की उपयोगिता थी। प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य में इस तथ्य को गहराई से पकड़ा गया है। अतः इस साहित्य के चरित्र या तो अतिशय पुण्यात्मा हैं अथवा घोर पापात्मा। मिश्रित व्यक्तित्व की स्वीकृति न साहित्य में थी और न समाज में। चुनाव के दो ही रास्ते थे सद्वृत्तियों का अथवा असद्वृत्तियों का पोषण। शायद इसीलिए पाखंडी व्यक्तित्वों की खुलकर आलोचना इस साहित्य के माध्यम से हुई है। इस दृष्टिकोण के कारण प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य के मूल्य यथार्थवादी होते हुए भी आदर्श के प्रति अधिक उन्मुख हैं।

सद-असद्वृत्तियों का विस्तारपूर्वक निरूपण करने की फलश्रुति यह हुई कि इस साहित्य में संघर्षमय जीवन और पुरुषार्थ के प्रति "निष्ठा" जैसे मूल्यों को अधिक स्थान मिला। जन्म-जन्मान्तरों की कर्मश्रृंखला भी पुरुषार्थ के माध्यम से भ्रवहृद् की जा सकती है, ऐसा विश्वास जन-मानस में बढ़ होने लगा। कठिन से कठिन कार्य सम्पन्न करने की चुनौतियाँ स्वीकार की जाने लगीं। दृष्टव्य है— 'पउमचरिउ' में केले की तरह सुकुमार बालक राम की यह उक्ति—

किं तम हणइ ण बालु रबि किं बालु दवग्गि ण डहइ वणु ।

किं करि दलइ ण बालु हरि किं बालु ण डंकइ उरगमणु ॥

परम्परा और पूर्वजों से प्राप्त धन एवं यज्ञ के प्रति भी पुरुषार्थी एवं साहसी सार्थवाह-पुत्रों की आसक्ति नहीं रह गई थी। वे अपने बाहुबल द्वारा अर्जित धन का उपयोग करना ही पुरुषार्थ की कसौटी मानते थे। इससे प्राकृत कथाकारों की दृष्टि से दो निष्पत्तियाँ हुई—एक तो देश-विदेश के विभिन्न स्थानों का भ्रमण कर जगत् के तथाकथित सुखों की वास्तविकता से व्यक्ति परिचित हुआ, दूसरे अनेक कष्टों द्वारा अर्जित धन का सही उपयोग करना यह सीख गया। यात्रा-प्रसंग में हुए प्रेम व विवाह-सम्बन्धों द्वारा उसके काम-पुरुषार्थ की भी साधना हो गई। अतः अब वह किसी भी समय अपने पुरुषार्थ को मोड़ देने में समर्थ हो गया, धर्म के प्रति उन्मुख होने में। यही इस युग के साहित्यकार का मूल्य-गत प्रतिपाद्य था। इस प्रकार प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य में उन सभी मूल्यों का समावेश है, जिन्हें भारतीय संस्कृति के शाश्वत मूल्य कहा जा सकता है। वे मूल्य किसी युग-विशेष के नहीं, अपितु प्रत्येक युग में जीवन के परिशोधन के लिए प्रेरणा के स्रोत हैं। उनमें से कुछ मूल्यों पर यहाँ विस्तृत विचार प्रस्तुत है—

### सामाजिक मूल्य :

भारतीय चिन्तन की दो शैलियाँ प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य में मिलती हैं। शुद्ध आध्यात्मिक चिन्तन, जो जीवन के परम लक्ष्य की प्राप्ति में सहयोगी है और ऐसा नैतिक चिन्तन, जो परिवार, समाज एवं मानवीय-सम्बन्धों को आदर्श रूप प्रदान करता है। यह बात सत्य है कि प्रायः प्राकृत साहित्य निवृत्तिमूलक है, किन्तु वह भी उतना ही स्पष्ट है कि उसकी निवृत्ति का मार्ग प्रवृत्ति को जीकर गुजरा है। प्रवृत्ति-मूलक संस्कृति को तहस-नहस करके नहीं। यह एक ऐसा कारण है जिसके फलस्वरूप जैन साहित्य एवं उसमें प्रतिपादित धर्म-आचार आदि भारतीय संस्कृति से अलग नहीं हो सका और न ही उसे शरण लेने विदेशों में भागना पड़ा। अतः प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य के सामाजिक जीवन-मूल्य लौकिक-जीवन से उतने ही सम्पन्न हैं, जितने संस्कृत-साहित्य अथवा अन्य साहित्य के मूल्य। जहाँ इस साहित्य में अध्यात्मवाद की गूँज है, वहाँ भौतिकवाद की स्वीकृति भी अपभ्रंश के दार्शनिक कवि सरहपाद की यह देहवादी स्वीकृति दृष्टव्य है—

एत्थु से सुरसिर सोवणाह

एत्थु से गंगा-सायरू ।

वाराणसि पश्चाग एथु, से चन्द-दिवाग्ररू

खेतपिट्ठ, उअपिट्ठ, एथु मई भमिअ समिट्ठउ ।

देहातरिस तित्थ मई सुणउ ण दिट्ठउ ॥

शरीर को तीर्थ मानकर चलने वाले इन कवियों ने नैसर्गिक जीवन जीने में रस लिया है, तब कहा है कि यह शरीर सभी अशुचियों का भण्डार है। अतः अनुभव के आधार पर इनका लेखन गतिशील हुआ है।

(i) प्रेम

सामाजिक मूल्यों में प्रेम की भावना एक प्रमुख जीवन-मूल्य के रूप में स्वीकार की गई है। मानव मन में रति का जो भाव है, वह अनेक रूपों में उभरकर सामने आता है। काम के प्रति आसक्ति, रोमान्स एवं प्रेम का विकास जीवन की अनिवार्य वृत्तियों में से है, इस तथ्य को प्राकृत कथाकार स्वीकार करके आगे बढ़े हैं। कामवृत्ति की सम्यक् अभिव्यक्ति हो सके इसके लिए उन्होंने साहित्य की एक विधा का नाम ही 'कामकथा' रख दिया था। उनके अनुसार रूप सौन्दर्य, युवावस्था वेश, दाक्षिण्य, कलाओं में निपुणता, श्रुत, अनुभूत और प्रत्यक्ष प्रेम सम्बन्धी विषयों का निरूपण करना काम-कथा है। यथा—

रुवं वप्रो य वेसा इक्खत्तं सिक्खियं च विसएसुं ।

दिट्ठं सुयमणुभूयं च संथवो चैव कामकला ॥

दशवैकालिक, गा० 192

कामकथा के माध्यम इस युग के साहित्य में प्रेम के अनेक चित्र उपलब्ध हैं। भाई-बहिन, पति-पत्नी, माता-पुत्र आदि के प्रेम सम्बन्धों का यथार्थ चित्रण इन कवियों ने किया है। इन प्रेम-सम्बन्धों की उत्कृष्टता प्रकट करने के लिए उन्होंने अनेक लोककथाओं को साहित्य का विषय बनाया है। अपभ्रंश के कवियों ने प्रेम के जितने प्रसंग उपस्थित किए हैं, उन्हें इन रूपों में विभक्त किया जा सकता है— (1) विवाह के लिए प्रेम, (2) विवाह के बाद दाम्पत्य प्रेम (3) असामाजिक प्रेम—यथा किसी रानी का अपनी हस्तशाला के कुरूप नौकर से प्रेम-सम्बन्ध आदि, (4) रोमाण्टिक प्रेम तथा (5) विषय प्रेम। इन सब के उदाहरण प्रस्तुत करना यहाँ संभव नहीं है। किन्तु अपभ्रंश कथाकारों के दृष्टिकोण को अवश्य समझा जा सकता है।

स्वयम्भू से लेकर पुष्पदन्त तक सभी कथाकार आदर्श प्रेम के पक्षपाती हैं। वे दाम्पत्य-प्रेम की वृद्धि में उन सभी बातों का वर्णन कर जाते हैं, जो कामवृत्ति से सम्बन्धित हैं। प्रायः इन कवियों ने संयोग की अपेक्षा विप्रलम्भ श्रृंगार का अधिक वर्णन किया है। रति का भाव वहाँ दूसरे की अपेक्षा अपनी आत्मा का आलम्बन बनकर रहता है। असामाजिक प्रेम के प्रसंगों के वर्णन में इन कवियों ने उसे चरमोपलब्धि तक नहीं पहुँचने दिया। अनुचित प्रेम करने वाले प्रेमी को या तो अपनी भूल समझ में आ जाती है अथवा कोई माध्यम बीच में आ टपकता है। परपुरुष से चाहे विवाहिता स्त्री का प्रेम हो अथवा कन्या का, दोनों को ही अनिष्टकारी स्वीकार किया गया है। स्वयम्भू को अशंका थी कि जो कन्या पर-पुरुष को चाहने लगती है, वह विवाह होने पर क्या इस आदत को छोड़ देगी ?—

जा कण होवि पर-णरु-वरइ ।

सा किं षडेढन्ती परिहरइ ॥ —प.च. 36-13-8

इसी प्रकार अकारण प्रेम प्रदर्शित करने वाले व्यक्ति से, चाहे वह मित्र ही क्यों न हो, अनैतिक प्रेम-सम्बन्ध पनपने की अशंका इन कवियों के साहित्य से प्रगट होती है। स्पष्ट शब्दों में नीति का चिंतन करते हुए राम सोचते हैं—

जो मित्तु अकारणों एइ घर ।

सो पत्तिप दट्टु कलत्त-हर ॥

36-13-8

प्राकृत कथाकार प्रेम के सम्बन्ध में कुछ अधिक अनुभवों प्रतीत होते हैं। उन्होने यद्यपि अनैतिक प्रेम को प्रश्रय तो नहीं दिया, किन्तु प्रेमी-प्रेमिकाओं के प्रेम को आदर्शरूप में विकसित होने देने के लिए वातावरण तैयार किया है। हरिभद्र ने कहा है—

सइदंशणाउ पेम्मं पैम्माउ रइ रईए विस्संभों ।

विस्संभाओ पणओ पच्चविहं बड्ढए पैम्मं ॥

निरन्तर दर्शन, प्रेम, रति, विश्वास और प्रणय इन पाँच कारणों से प्रेम वृद्धि को प्राप्त होता है : समराइच्चकहा में प्रेम के इन सभी कारणों का विकास हुआ है। कुवलयमालाकहा में एक प्रेमकथा का सुन्दर उदाहरण है। प्रेम की उपलब्धि के लिए केवल भावुक होना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु जो पराक्रमी एवं धैर्यवान है, वही दूसरे के प्रेम को प्राप्त कर पाता है। प्राकृत कथाकारों ने प्रेमी-प्रेमिकाओं के धैर्य एवं उनकी दृढ़ता की अनेक परीक्षाएँ लेकर उन्हें शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करने के योग्य माना है। प्रथम दर्शन व मिलन में वासना की तृप्ति कर लेना इन कथाकारों को स्वीकार नहीं था। उस युग की युवतियाँ भी सामान्य रूप से चुनौती स्वीकार करने वाले युवकों की और आकर्षित होती थीं। अतः परिश्रम और साहस प्रेम जैसे मूल्य के पोषक तत्व थे। इनसे पुण्यार्जन होता था और उससे जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति—

परिभुंजउ न याणइ लच्छिं पत्तं पि पुण्यपरिहीणो ।

विक्कमरता हु पुरिसा भुंजंति परेसु लच्छीओ ॥

—कथाकोषप्रकरण

प्राकृत-साहित्य में प्रेम-व्यापार की प्रमुख विशेषता यह है कि प्रायः सभी कथाओं में प्रेम का आरंभ नारी की ओर से हुआ है, जो प्रेम के विकास की विशुद्ध भारतीय पद्धति है। प्रेम की सफलता के लिए प्रेमिका के त्याग, निस्वार्थता आदि गुणों का पूर्ण परिपाक हुआ है। कई प्रेम-प्रसंगों में तो मानसिक और आत्मिक योग का इतना आधिक्य है कि शारीरिक संयोग नगण्य—सा हो गया है। तरंगवती की प्रेम-कथा इस ढंग की अनोखी कथा है।

दाम्पत्य प्रेम के दोनों रूप इस साहित्य में प्राप्त हैं—विवाह के बाद एक दूसरे के लिए सर्वस्व निछावर करने वाला प्रेम एवं पति-पत्नी के कलह और कपटपूर्ण

प्रेम । आचार्य हरिभद्र ने मार्थवाह-पुत्र धन और उसकी पत्नी लक्ष्मी की कथा द्वारा नारी के ये सभी रूप उपस्थित किए हैं, जो पति के जीवन एवं प्रतिष्ठा के लिए घातक हैं । कुवलयमालाकहा में दाम्पत्य प्रेम के आदर्शरूप को प्रस्तुत किया है । श्रेष्ठपुत्र प्रियंकर और उसकी पत्नी सुन्दरी में इतना अगाध प्रेम था कि व्याधि से प्रियंकर की मृत्यु हो जाने पर भी सुन्दरी उसे जीवित मानती रही । जब उसके परिवार वालों ने उसे समझाने की कोशिश की तो वह अपने मृतपति को लेकर घरबार छोड़कर एकान्तवास करने लगी । इसी तरह की अन्य कथाएँ भी दाम्पत्य-प्रेम की पुष्टि करती हैं ।

### (ii) परिवार

दाम्पत्यप्रेम को नींव पर सुदृढ़, परिवार व्यवस्था की आकांक्षा का स्वर इस युग के प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य में है । सयुक्त परिवार की उपयोगिता सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टि से स्वीकार कर ली गयी थी । परिवार में कलह न हो इसके लिए परिवार का प्रत्येक सदस्य त्याग के लिए प्रस्तुत रहता था । जीवन के इस प्रमुख मूल्य की स्थापना भारतीय समाज में प्रारंभ से ही रामकथा के माध्यम से होती आयी है । अपभ्रंश कवियों ने उसे तो अपनाया ही, कुछ नये आदर्श भी प्रस्तुत किए । पउमचरिउ के राम को दशरथ वन जाने की आज्ञा नहीं देते, अपितु राम स्वयं इसलिए घर से निकल पड़ते हैं कि उनके रहते हुए भरत का व्यक्तित्व नहीं उभरेगा । ठीक उसी प्रकार जैसे सूर्य की किरणों के रहते हुए चन्द्रमा शोभा को प्राप्त नहीं होता—

जिह रवि-किरणोहि ससि ण पहावइ ।

तिह मइं होन्ते भरहु ण भामइ ॥

ते कज्जे वण-वासँ वसेवउ ।

—प. च. 25-5-3

परिवार में सदस्यों की निस्वायंता जितनी स्थिरता लाती है, उतना ही सुख नारी के प्रति सौजन्यपूर्ण व्यवहार से प्राप्त होता है । यद्यपि परिवार जैसे घटक में पति-पत्नी एवं सास-बहू के कलह के कम उदाहरण इस साहित्य में नहीं मिलते, तथापि परिवार के कल्याण की कामना ही इन साहित्यकारों ने की है । जहाँ-कहीं पारिवारिक सम्बन्धों में शिथिलता आदि का प्रसंग है, नारी की अशुचिता एवं कपट का वर्णन है, वह सब संसार की अस्थिरता एवं मोह-माया की तीव्रता का बोध कराने के लिए है ।

### आर्थिक मूल्य

इस साहित्य में जीवन के आर्थिक पक्ष का जितना वर्णन है, शायद दूसरे किसी साहित्य में नहीं है । वरिणकपुत्रों की साहसपूर्ण यात्राओं के माध्यम से तत्कालीन अर्थव्यवस्था की विस्तृत जानकारी इस साहित्य में मिलती है । किन्तु अर्थ के

प्रति इस युग का दृष्टिकोण क्या था, इसकी व्याख्या इस साहित्य में प्रतीकों के माध्यम से हुई है। राजकुमारों, श्रेष्ठपुत्रों, सामन्तों की दीक्षा आदि के जहाँ प्रसंग हैं, वहाँ उनकी समृद्धि का विस्तृत वर्णन भी है, जो इस बात का साक्ष्य है कि इतनी सम्पदा होने पर भी वे भौतिक सुख से संतुष्ट नहीं हो सके। उन्हें अध्यात्म के धरातल पर उतरना पड़ा। पूँजीवाद एवं समाजवाद जैसे शब्दों का प्रयोग भले इस युग में न हुआ हो, किन्तु इनके आशय को संप्रेषित करने में मात्र एक शब्द ही पर्याप्त था—'दध्व' (द्रव्य)। अर्थ की उपयोगिता मात्र इतनी है कि वह द्रवित होता रहे। एक स्थान से दूसरे स्थान पर चलता रहे। इसकी निष्पत्ति है अपरिग्रह। समाजवाद की पूर्ण व्यावहारिकता। अतः प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य में अर्थ की, सम्पत्ति की जो निन्दा की गई है, वह उसकी उपयोगिता को निन्दा नहीं है, अपितु उसके संग्रह के प्रति विरोध का नारा है। इसी लिए अर्थ कथाओं में विभिन्न शिल्प, विद्या उपाय आदि के द्वारा न केवल धनार्जन किए जाने के उल्लेख हैं, अपितु समृद्धि का कैसे विभाजन हो इसके साधन भी निर्दिष्ट किए गए हैं।

### आध्यात्मिक मूल्य

प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य का सबसे मुखर स्वर आध्यात्मिक मूल्यों की स्थापना के प्रति है, क्योंकि इसके लेखक साहित्यकार ही नहीं, जीवन के परमलक्ष्य के अन्वेषक भी थे। वे जानते थे कि आर्थिक शोषण उतना हानिकारक नहीं है, जितना आध्यात्मिक शोषण। अध्यात्म से विमुख हो जाने पर जन-मानस का भावजगत् ही ऊसर हो जाता है। अतः उन्होंने धर्म-कथाओं के माध्यम से आध्यात्मिक मूल्य जगाने का प्रयत्न किया है। इसलिए प्राकृत कथाएँ पहले पाठक को जगत् की वस्तु-स्थिति से परिचित कराती हैं और फिर उसे छोड़ देती हैं। वह स्वतन्त्र है कि वह अपने हित की बात चुन ले। प्रायः अशुभ को अशुभ जान लेने के बाद उस और कदम नहीं उठते। इस कारण इस साहित्य में उन विकृतियों के प्रति पूर्ण आक्रोश का स्वर मिलता है, जो आत्मिक उत्थान के मार्ग में बाधा हैं, चाहे वे धार्मिक क्रियाकाण्ड हों अथवा सामाजिक अन्ध-विश्वास।

इस युग के साहित्य में जिन आध्यात्मिक मूल्यों का वर्णन है, उनमें से प्रमुख हैं—(1) कर्म सिद्धान्त का प्रतिपादन (2) जगत् की नश्वरता (3) मनुष्य जीवन की सार्थकता तथा (4) शाश्वत सुख की तलाश। यद्यपि इन सभी मूल्यों के केन्द्रों में सद्वृत्तियों के प्रति आस्था और असद्वृत्तियों के परिशोधन का चिन्तन निहित है। किन्तु इसकी पृष्ठभूमि जैन धर्म के सिद्धान्तों द्वारा निर्मित हुई है। यदि इन कथाओं से परिभाषिक शब्दजाल को निकाल दिया जाय, तो इन मूल्यों की सार्वजनीन प्रतिष्ठा हो जाती है। इनके सम्बन्ध में किंचित् विस्तार से विचार किया जा सकता है।



इस साहित्य का कर्म-सिद्धान्त का प्रतिपादन प्रधान स्वर है। व्यक्ति जो कुछ अपने मन-वचन-कर्म के सहयोग से करता है उसका अच्छा-बुरा परिणाम उसे अवश्य भोगना पड़ता है। इस भोगने की प्रक्रिया में वह अकेला होता है। अतः यदि वह चाहे तो अपने सद्-प्रयत्नों द्वारा, इस कम शृंखला को ताड़ भी सकता है। इस के लिए उसे किसी ईश्वर आदि की अनुकम्पा की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य में यद्यपि ईश्वरत्व के प्रति आस्था है, किन्तु उसके कृतत्व एवं हस्तक्षेप का खण्डन किया गया है। इससे एक ओर ईश्वर की महिमा और गौरव सुरक्षित बना रहा; क्योंकि उसे छोटे और बुरे कार्य के लिए उत्तरदायी नहीं होना पड़ा दूसरी ओर व्यक्ति के आत्मविश्वास में वृद्धि हुई।

कर्म-सिद्धान्त के प्रतिपादन के साथ पुनर्जन्म की लम्बी शृंखला जुड़ी हुई है। हरिभद्र की समराइच्छकहा में 9 जन्मों तक प्रतिशोध की भावना व्यक्ति को परेशान करती है। जाति-स्मरण कराना इन साहित्यकारों की अपूर्व देन है। पिछले अनेक जन्मों के स्मरण द्वारा वे व्यक्ति का यह समझ देते हैं कि अशुभ कार्य करना कितना दुखदायी है तथा किसी भी शुभ फल की प्राप्ति इतनी सरल नहीं है कि किसी की मनौती माँगी या आराधना की और सुखी हो गए। इसके लिए कई जन्मों तक साधना करनी होती है।

इस सिद्धान्त के प्रतिपादन द्वारा व्यक्ति का अहंकार भी तिरोहित होता है, जो सभी बुराइयों की जड़ है। पूर्व जन्मों के इतिहास को देखकर स्पष्ट हो जाता है कि कितनी बार सुन्दर देह प्राप्त की है, कितनी सम्पत्ति अर्जित की है तथा कितने प्रियजनों का स्नेह प्राप्त किया है, फिर भी सन्तुष्टि नहीं हुई। अतः इस सत्य को अब समझ लेना चाहिए कि देहाभिमान, सत्ताभिमान एवं ममत्व आदि पर गर्व करने से संसारचक्र में भटकना पड़ता है। यह मुक्ति का मार्ग नहीं है। उदद्योतन सूरि ने कुवलयमालाकहा में क्रोध, मान, माया, लोभ एवं मोह जैसी रागात्मक वृत्तियों के परिशोधन का सुन्दर चित्रण किया है।

प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य में जगत् की नश्वरता का जितना तीव्र स्वर है, उसकी अन्विति उतनी ही प्रभावकारी है। संसार की वस्तुएँ, रागात्मक-सम्बन्ध, सम्पत्ति आदि व्यक्ति के उत्थान में सहयोगी नहीं हैं। इस सम्बन्ध में राजा दशरथ की यह उक्ति दृष्टव्य है—

को हउं का महि कहो तरणउ दश्वु ।

सिहासण छत्तई अथिरु सव्वु ॥

जोव्वणसरीरु जीविउ घिगत्यु ।

संसारु असारु अणत्थु अत्थु ॥ इत्यादि ।

—परम.—22—3

प्राकृत साहित्य में अनेक दृष्टान्तों द्वारा इस दृष्टिकोण को और अधिक स्पष्ट किया गया है। जगत् की नश्वरता का चित्रण एक गहरे अर्थ की ओर संकेत करता

है। संसार को असार कहने का अर्थ यह नहीं है कि जगत् की वस्तुएँ एकदम अनुपयोगी हैं, माता-पिता आदि के सम्बन्ध केवल दुःखदायी हैं तथा समृद्धि नरकदायिनी है, अपितु इस अस्थिरता के स्वर का तात्पर्य यह है कि संसार की ये समस्त परिस्थितियाँ इतनी निर्बल हैं कि व्यक्ति के उत्थान में इनसे कोई रुकावट पड़ने वाली नहीं है। व्यक्ति का पुरुषार्थ जगत् के वातावरण से अधिक शक्तिशाली है। अतः वह जीवनोत्थान के मार्ग में निशंक होकर आगे बढ़ सकता है। यदि नहीं बढ़ता तो इसके लिए वातावरण या जगत् का कोई दोष नहीं है। घर-गृहस्थी के आकर्षण का वह बहाना नहीं कर सकता। और, जब व्यक्ति किसी भी अवनति के लिए केवल अपने को कारण मानने लगता है, उसे उन्नति के मार्ग पर जाने में देर नहीं लगती। यह इन साहित्यकारों का प्रतिपाद्य था।

प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य में इन प्रमुख जीवन-मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए प्रमुख रूप से दो शैलियाँ अपनाई गई हैं— (1) विभिन्न प्रतीकों का प्रयोग और (2) हास्य-व्यंग शैली का प्रतिपादन। प्रतीकों में समुद्र यात्रा और जलयान-भग्न के प्रतीक आठवीं सदी के प्राकृत-साहित्य में सर्वाधिक प्रयुक्त हुए हैं। कुवलयमाला में कुडंगद्वीप की यात्रा के प्रसंग में जलयान-भग्न की घटना द्वारा धार्मिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। समुद्र-यात्रा संसार की यात्रा है। जलयान का भग्न होना जीवन-मृत्यु की शृंखला है और किसी फलक आदि के द्वारा तट की प्राप्ति धर्मोपदेश द्वारा मुक्ति की ओर गमन का प्रतीक है। इसी प्रकार बुण्डरीक का दृष्टान्त मधु विन्दु, सर्षपदाना, कड़वी तुम्बी का तीर्थस्थान, आदि अनेक प्रतीकों की योजना इन साहित्यकारों ने की है।

हास्य-व्यंग शैली का प्रतिपादन यद्यपि प्रत्येक युग के प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य में यत्र-तत्र उपलब्ध है, किन्तु आठवीं शताब्दी में इस साहित्य का यह प्रबल स्वर हो गया था। इसका पूर्ण प्रतिनिधित्व हुआ है आचार्य हरिभद्र के 'घूर्ताख्यान' नामक प्राकृत ग्रन्थ में। इसमें सृष्टि की उत्पत्ति, प्रलय, त्रिदेव के स्वरूप की मिथ्या मान्यताएँ, अन्धविश्वास, अस्वाभाविक मान्यताएँ, जातिवाद, अमानवीय प्रसंगों आदि का व्यंग के माध्यम से खण्डन किया गया है। ग्रन्थ की विशेषता यह है कि इसके हास्य और व्यंग प्रहार ध्वंसात्मक न होकर निर्माणात्मक हैं। वे स्वस्थ सदाचारपूर्ण जीवन का निरूपण करते हैं।

इस प्रकार प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य में उन जीवन-मूल्यों की प्रतिष्ठा की गई है जो व्यक्ति के आत्मिक विकास में सहायक हैं तथा जिनसे समाज का नैतिक आधार दृढ़ होता है। इस साहित्य में मूल्यों में परिवर्तन की ध्वनि भी सुनायी पड़ती है, जिसे साहित्यकारों ने सुन्दर शैली में रूपायित किया है। इस साहित्य की मूल्यों के प्रति यह सजगता वर्तमान हिन्दी-साहित्य तक स्थानांतरित हुई है, यद्यपि उसके स्वरूप और प्रभाव का स्वर अवश्य बदला हुआ है।



## डॉ. प्रेम सुमन जैन

**जन्म** :- 1 अगस्त, 1942, सिहूँडी (जबलपुर) ।

**शिक्षा** :- कटनी, वाराणसी, वैशाली एवं बोधगया में संस्कृत, पालि, प्राकृत, जैनधर्म तथा भारतीय संस्कृति का विशेष अध्ययन। 'कुवलयमालाकहा का सांस्कृतिक अध्ययन' विषय पर पी-एच. डी. । अब तक 18 पुस्तकों का लेखन-सम्पादन एवं लगभग 125 शोध-पत्र भी प्रकाशित ।

सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर के जैन विद्या एवं प्राकृत विभाग के अध्यक्ष पद पर विगत 12 वर्षों से कार्यरत । देश-विदेश के विभिन्न सम्मेलनों में शोध-पत्र वाचन । 1984 में अमेरिका एवं 1990 में यूरोप-यात्रा के दौरान विश्वधर्म सम्मेलनों में जैन दर्शन का प्रतिनिधित्व एवं जैन विद्या पर विभिन्न व्याख्यान सम्पन्न । सम्प्रति-प्राकृत, अपभ्रंश पाण्डु-लिपियों के सम्पादन-कार्य में संलग्न ।

प्राकृत-अध्ययन प्रसार संस्थान, उदयपुर के मानद निदेशक एवं त्रैमासिक शोध-पत्रिका 'प्राकृतविद्या' के सम्पादक ।

## ग्रन्थ-चतुष्टय (डॉ. प्रेम सुमन जैन)

### जैनधर्म और जीवन-मूल्य

श्रमणधर्म की परम्परा, अनेकान्त, समता, अहिंसा अपरिग्रह, स्वाध्याय आदि जैनधर्म के जीवन-मूल्यों पर वर्तमान सन्दर्भों के परिप्रेक्ष्य में प्रकाश डालने वाली चिंतन प्रधान पुस्तक ।

रु. 90.00

### प्राकृत कथा-साहित्य परिशीलन

प्राकृत कथा साहित्य के उद्भव एवं विकास, भेद-प्रभेद, प्रतीक कथाओं, प्रतिनिधि कथा-ग्रन्थों एवं प्रमुख अभिप्रायों (Motifs) पर अभिनव सामग्री प्रस्तुत करने वाली शोधपूर्ण पुस्तक ।

रु. 75.00

### प्राकृत, अपभ्रंश और संस्कृति

भारतीय भाषाओं के विकास में प्राकृत, अपभ्रंश भाषाओं का क्रम एवं योगदान, प्राकृत के भेद-प्रभेद, भारतीय भाषाओं के साथ सम्बन्ध, प्रमुख भाषाविदों एवं ग्रन्थकारों का अदान, सांस्कृतिक मूल्यांकन और लोक संस्कृति को उजागर करने वाली पुस्तक ।

रु. 75.00

### जैन साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका

जैन साहित्य का ऐतिहासिक एवं सामाजिक महत्व, विभिन्न सामाजिक संस्थाओं, संस्कृत की जैन रचनाओं और कवियों तथा विभिन्न ग्रन्थों के वैशिष्ट्य को रेखांकित करने वाली पुस्तक ।

रु. 75.00

संघी प्रकाशन, जयपुर

